दमयन्ती

(महाकाव्य)



लेखक
ताराचन्द्र हारीत

प्रस्तावना
गोपालदास 'नीरज'

१९५७
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट दिल्ली-६

मूल्य [illegible]

मुद्रक
सुधीर् प्रेस
चावड़ी बाजार दिल्ली ६

प्रस्तावना

इतिहास जब करवट लेता है तब परम्परायें और मान्यतायें ही नहीं बदलतीं बल्कि संस्कृति का मानस-लोक और साहित्य का भाव-लोक भी परिवर्तित हो जाता है, जिसके कारण हमारी मनःस्थिति के साथ-साथ हमारे जीवन मूल्यों में भी व्यतिक्रम उपस्थित हो जाता है। इस परिवर्तन की दो प्रक्रियायें होती हैं। कभी तो यह परिवर्तन इतना तीव्र इतना वेगगामी होता है कि तुरन्त एक क्षण में सब कुछ बदल जाता है किन्तु कभी-कभी यह देश विशेष की प्रकृति की सीमा रेखाओं को स्पर्श करता हुआ और उनमें परिशोधन एवम् परिवर्धन करता हुआ शनैः शनैः अपना चरण-निक्षेप करता है और हमें उसका आभास तक नहीं हो पाता। १५ अगस्त १९४७ के दिन भारत-भूमि ने भी एक ऐसी ही करवट ली थी। युगों से पददलित निरस्त्र देश ने शताब्दियों के दासत्व-युक्त शृंखलाओं को एक झटके में उतारकर फेंक दिया था। भारतवर्ष से पहले भी बहुत से देशों ने आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी और विजय पाई थी पर प्रत्येक देश के मुक्ति-यज्ञ में रक्त-बलि का शाप भी था। यह भारत ही था जिसने बिना तलवार के—प्यार से यह स्वतन्त्रता का संग्राम जीता। राजनीति में और विशेष रूप से स्वार्थान्ध पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर यह एक सर्वथा अभिनव प्रयोग था। संसार ने इस प्रयोग का फल देखा और चकित रह गया। भारत स्वयं यह देखकर चकित रह गया और जब तक वह इस चमत्कार की व्याख्या करे तब तक वो चमत्कार दिखाने वाला चला गया। वह चला तो गया लेकिन भारत के हाथ में एक मशाल छोड़ गया जिसके आलोक में युद्ध-त्रस्त विश्व का पथ आलोकित किया जा सकता था और जिसके प्रकाश में बैठकर शस्त्रों और बमों की अन्धेरी रात में भी मानवता का नया इतिहास लिखा जा सकता था। 'गाँधी भारत के हाथों एक ऐसी क़लम दे गया था जिसके द्वारा मानवीय सम्बन्धों की एक सर्वथा नवीन कविता लिखी जा सकती थी। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह आवश्यक हो गया कि हमारा देश उन पुरानी रूढ़ि-जर्जर मान्यताओं का त्याग करे जो आज तक हमारी हीनता की कहानी कहती रही थी और उन नवीन मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा में लगे जो उस भौतिक उत्कर्ष में नगण्य होने पर भी संसार के अन्य समृद्धिशाली

राष्ट्रों के बीच तनकर बैठने का गौरव प्रदान कर सके। फलस्वरूप देश में वादों की भीड़ सी लग गई। गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद तन्त्रवाद लोकतन्त्रवाद आदि अनेक वादों का एक मेला सा राजनीति के रंगमंच पर जमने लगा और उसके कोलाहल में से भारत प्रयत्न करता रहा कि अपनी आत्मा की आवाज सुन सके। नेहरू के रूप में भारत ने अपनी आत्मा को साकार पा लिया और राजनीति उसे लेकर कैसे मग्न हो गई। किन्तु साहित्य में नेहरू जैसा कोई सक्षम व्यक्तित्व नहीं था इसलिये वह वादों के तुमुल कोलाहल में ही खो गया। इन दस वर्षों में प्रगतिवाद प्रयोगवाद बिम्बवाद प्रतीकवाद नकेनवाद आदि कितने ही वाद आये और थोड़ी-थोड़ी देर अपनी-अपनी झांकी दिखाकर चले गये। पर नवीन भारत की नवीन आत्मा का जो समूचा रूप उद्घाटन कर उसे युग-युग की वाणी प्रदान कर सके—वह वाद अभी भी आविष्कृत नहीं हुआ है।

इस समय एक अजीब-सी स्थिति है—नये के प्रति हम आकर्षित हैं पर वह हमारे संस्कारों से छूट नहीं पाता है पर साथ ही पुराने का हमें मोह भी है किन्तु नये मानवों के चौखट में वह फिट नहीं हो पाता है। एक दुराहे पर हम दिग्भ्रमित से खड़े हैं—एक पैर पूरब एक पैर पश्चिम—अजीब खींचतान है। पूर्व हमें भारत की ओर—वाल्मीकि तुलसी की ओर खींचता है और पश्चिम हमें इलियट और एजरापाउंड की तरफ ले जाता है। शक्ति हममें इतनी है नहीं कि इस खींचा-खींची में हम अपने को बचाये रखें— चोट न लगने दें। इसलिए एक विघटन की अवस्था आ गई है। विघटन अनास्था का पिता है इसीलिये आज हमारे साहित्य में आस्था की खोज होने लगी है। क्या कविता क्या उपन्यास क्या कहानी—सब ओर आस्था की पुकार है। पहले जीवन की पुकार उठी थी पर अब यह आस्था की पुकार आ गई है। कल शायद कोई तीसरी भी पुकार सुनाई दे और परसों चौथी।

तो यह 'पुकारों' का 'शोरों' का यानी 'नारों' का युग है इसीलिए संगीत आज मरता जा रहा है और गीत—अपूजित—अनसुना होकर इधर-उधर भटक रहा है। लेकिन कुछ हैं जो फिर भी गाये जा रहे हैं गाये जा रहे हैं और शायद यह उनका गाना ही हो जो कवि की मरुस्थली नीरसता में भी सरसता का संचार कर रहा है और लोक-मानस में कविता के प्रति प्रीति और प्यार बनाये हुए है।

श्री हारीत जी भी हिन्दी के कुछ ऐसे ही अलमस्त गायकों में से हैं। प्रचार और विज्ञापन से दूर वे केवल इसलिये गाये जा रहे हैं कि गाये बिना रह नहीं

सकते । मैं मेरठ साल भर रहा मामा और मेरठ के ही एक गाँव में हारीत जी रहते हैं पर न तो कभी इनसे परिचय ही हुआ और न पहले कहीं इनकी रचना ही पढ़ी । आज जब सामने 'दमयन्ती' आई और वह भी महाकाव्य के रूप में तो आश्चर्य हुआ । इस कवि को तो कभी जाना भी नहीं कभी नाम भी नहीं सुना और फिर यकायक ये की ये पंक्तियाँ याद आ गईं—

Full many a gem of purest ray Screne
The Dark unfathomed caves of ocean bear
Full many a flower is born to blush unseen
And waste its sweetness on the desert Air

हारीत जी के बारे में जब जाने और पूछताछ की तो पता चला कि छोटे बड़े सब मिलाकर वे अब तक १४ ग्रन्थ लिख चुके हैं जो अभी अप्रकाशित हैं । तो हारीत जी अभी तक हम हिन्दी वालों के लिये पूर्ण अपरिचित हैं। अपरिचित वे इसलिए हैं कि न तो वे कभी कवि-सम्मेलनों में कविता-पाठ करने गये और न किसी 'वादी-आचार्य' से दीक्षा लेकर वे उसके शिष्य बने । वादों की हवा से बिल्कुल अछूता—असंपृक्त उनका व्यक्तित्व है और उसकी छाप उनकी रचनाओं पर भी सर्वत्र देखी जा सकती है ।

पाश्चात्य समीक्षकों ने कविता के दो स्थूल भेद किये हैं—आत्मगत (Subjective) और वस्तुगत (Objectivo)। सुविधा के लिये यदि हम चाहें तो एक को आत्मानुभूति निरूपिणी और दूसरी को वाह्यार्थ निरूपिणी कह सकते हैं । गीत अथवा मुक्तक रचना प्रथम के अन्तर्गत आती है और प्रबन्ध रचना दूसरी के अन्तर्गत समाविष्ट की जा सकती है । कविता के ये दोनों रूप प्रचलित हैं पर वास्तव में यह वर्गीकरण व्यावहारिक ही है तात्त्विक नहीं क्योंकि चाहे वह गीत रचना हो या प्रबन्ध रचना हो अन्त में दोनों आत्मानुभूति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं । जब कवि का मानस अपने भाव के रस से इतना भर जाता है कि वह मानस उससे छलक छलक पड़ता है तब गीत का जन्म होता है लेकिन जब कवि की दृष्टि अपने 'स्व' से ऊपर उठकर लोक-मानस की भूमि पर 'पर' से तादात्म्य का प्रयास करती है तब महाकाव्यों का जन्म होता है । एक में अपनी रचना का लक्ष्य व्यक्ति स्वयं होता है और दूसरी में उसका लक्ष्य समाज और संसार होता है इसीलिए जहाँ गीत में तीव्र संवेदनशीलता होती है वहाँ प्रबन्ध काव्य में एक विशद व्यापकता के दर्शन हमें होते हैं । गीत व्यक्तिपरक अधिक है इसीलिए संस्कृतियों और सभ्यताओं के निर्माण और विकास में उसका योगदान उतना नहीं रहा है कि

जितना महाकाव्यों का। विश्व-साहित्य में सदियों से जिन्हें संसार का आदर प्राप्त होता रहा है और जिन्हें शिष्ट साहित्य (Classic) की संज्ञा प्राप्त हुई है वे अधिकांश प्रबन्ध रूप में ही हैं। प्रबन्ध काव्यों में विशद वर्णन द्वारा सामाजिक जीवन की जो विशाल झाँकी प्रस्तुत की जाती है उस की विशालता व्यापकता का बड़ा ही स्थायी एवम् विशद प्रभाव लोक-मानस पर पड़ता है। परन्तु महाकाव्य की महान साधना का सर्वभार अपनी लेखनी के कंधे पर साधना बड़ा दुष्कर होता है। उसके लिए एक स्पष्ट जीवन-दर्शन सूक्ष्म ज्ञान दृष्टि अनुभूतियों की एकतानता भावना बुद्धि और कल्पना का समीचीन सन्तुलन आवश्यक होता है। इसके बिना न तो घटना चक्र को ही वह सम्भाल रख सकता है और न ही वह वस्तु-प्रतिपादन और मनोद्वन्द्व द्वारा चरित्र-निर्माण में सफल होता है। महाकाव्य के भीतर अनेक रसों का ताना-बाना इतना विराट और विशाल हो जाता है कि प्रतिक्षण बिना सजग रह उसे सम्भालना कठिन हो जाता है। यह समस्त कार्य बड़े परिश्रम अध्यवसाय एवम् व्यापकता की अपेक्षा रखता है। गीत में अनुभूति खंड खंड होकर ही अपनी अभिव्यक्ति करती है किन्तु महाकाव्य में चेतना एक कथा में घुलकर अखंड हो जाती है इसलिए महाकाव्य का रसास्वादन भी उसके पूरे प्रभाव से ही किया जाना चाहिए।

कहना सही होगा कि हरीश जी की प्रस्तुत कृति उपरोक्त सभी बातों को पूरा करती है। इसमें एक सुसम्बद्ध लोक विश्रुत नल-दमयन्ती की प्रेम-कथा के साथ-साथ अनुभूति की एकतानता एक स्पष्ट जीवन-दर्शन सफल प्रकृति चित्रण अत्यन्त प्रांजल एवम् परिष्कृत भाषा तथा सम्यक् चरित्रांकन के दर्शन होते हैं। भाषा पर तो कवि का ऐसा पूर्णाधिकार है कि वह उसे जब जिस रूप में चाहे वैसा मोड़ सकता है। प्रकृति-चित्रण में उसकी भाषा संगीतात्मक और कोमल हो जाती है, संवादों में शिष्ट एवम् प्रभावपूर्ण दिखाई देने लगती है, और युद्धवर्णन में सहज मन्थर पद-गामिनी। नीचे के तीनों उदाहरण मेरी बात की पुष्टि करेंगे—

प्रकृति-चित्रण—

मल्लिका यह माधवी चम्पा कहीं
यूथिका वासन्तिका कुन्तक कहीं।
केतकी यह इधर कुन्द कदम्ब है
वट, न इन्दीवर कहीं यह तिलक है।

स्वर्ण-कान्ति सुधापिकी मंडप चढ़
माधवी पुत कर्णिकार मुदित बढ़े।

अथवा

जब चढ़ी रात नभ बदन हुआ पीला-सा
पृथ्वी अंचल पद हरित हुआ नीला-सा।
वह सु-अभिसारिका गई किन्तु ये छोड़े
हत भ्रम से तारे उसे पकड़ने दौड़े।
मूर्च्छित-सा विधु हो गया न यह सह पाया
आ पहुँचा मन्द समीर देख मुस्काया।
वह व्यजन डुलाने लगा जग से सीखा
हो विकल तिमिर ने हाथ धरा से खींचा।

संवाद—

केशिनी ! न है यह बात तुम्हें क्या सूझी
पौरुष का कुछ महत्व न समझा-बूझा।
रजनी भर मुकता कभी अली फूलों में
बिंध जाता कभी शिरीष, अली ! शूलों में।
अपने प्राणों पर खेल लता को पाता
करता है इसको मुग्ध गीत मधु गाता।
पाकर अलि का सर्वस्व, स्वरस ये देतीं
यह क्या देना जो मात्र परस ये देतीं।

मुद्रा-चित्रण—

छू रहे हैं कम्पन-युत युग-कर्ण को
वर्ण मज्जित कर रहा है स्वर्ण को।
नासा-शुक सी ललन-मग्न रत्नावली
भर रही क्यों छुवित में मुक्तावली।
चिबुक परम मनोज्ञ विस्तृत भाल है
अलकियों पर, श्याम का मन-जाल है।

यह सत्य है कि नयी कविता के नये शिल्प प्रयोगों एवम् प्रतीक-विधानों से द्वारिका जी की कला सर्वथा अछूती है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नवयुग में नये प्रश्नों ने भी उन्हें नहीं छुआ है। नवीन काव्यगत मान्यताओं को अस्वीकार करके भी वे नवयुग की प्रमुख-प्रमुख समस्याओं से पूर्ण परिचित हैं और स्थान-स्थान पर इस प्रबन्ध में उनकी समुचित अभिव्यक्ति हुई है।

यद्यपि साम्यवाद समाजवाद सभी की यत्किंचित अनुगूँज उनकी कृति में है फिर भी गाँधीवादी-विचारधारा विशेष रूप से अहिंसा सहकारिता अस्पृश्यता और मानववाद का प्रभाव उन पर विशेष रूप से है और यही वस्तुतः इस प्रबन्ध-काव्य की दर्शन भित्ति है। घटना क्रम में आये हुए विविध कार्य कलापों के बीच उन्होंने नारी-स्वातन्त्र्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य श्रम पूजा और मानव-गौरव में भी अपनी आस्था प्रकट की है। देवताओं में श्रम की बात तो स्वयंवर सभा में बड़े ही सुन्दर शब्दों में दमयन्ती द्वारा इस प्रकार कही गई है—

रे पातकी! देखो अहल्या ली तुम्हीं ने शाप की
जितनी न बात हालिकों की लाघुता है तप की।
सब देखकर सौन्दर्य तुम निज पर नियन्त्रण रख सके
है खेद अब तक भी न जो तुम हाय! इस पथ से थके।
इस कर निरीह दधीचि को फिर भी नहीं लज्जित हुए,
जो आज भोली बालिका स्वार्थ यों सज्जित हुए।
लक्ष्मी तुम्हारी दे रहे असमेत ये उस रात की
फिर भी न अपनी प्रकृति तुम हा तज सके उत्पात की।

प्रेम और अहिंसा की बात नल द्वारा इस प्रकार—

यह न प्राण का दान मात्र! यह मानवता है
हिंसा से परिपूर्ण भाव भी दानवता है।

और निम्नलिखित पंक्तियों में नारी-गौरव की बात नल द्वारा इस प्रकार कही गई है—

बोले—यह नारीत्व अबलता द्योतक नहीं है
कान्तिमान नारीत्व-कुसुम हिम भीत नहीं है।
दीन हीन तुम कहाँ! प्रतीक तुम्हीं हो बल का
तुम्हीं निवारण-काम देवि! संशय का छल का।
विधि की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि पुरुषत्व नहीं है,
इसी सृष्टि पर पूर्णविजय नारीत्व रहा है,
अबला हो तुम किन्तु विपद में बल ही तुम ही
विश्व सशक्त है यह इसमें बल हो तुम ही।

और पति-परायणा निद्रा-निमग्न दमयन्ती को मध्य रात्रि में निर्जन वन में तरु के तले छोड़कर जाते हुए नल के हृदय में जो अन्तर्द्वन्द्व हो रहा है उसका चित्रण बड़े ही मर्म-स्पर्शी एवं हृदयग्राही शब्दों में कवि ने किया है। केवल विस्तार भय से मैं यहाँ पर उसके उद्धरण नहीं दे रहा हूँ। इसके अतिरिक्त

कवि ने कथा के बीच-बीच में नवीन पात्रों और परिस्थितियों की भी उद्भावना की है जिसके कारण कथा का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है। इस दृष्टि से पूरा का पूरा वसम सर्ग दर्शनीय है।

कवि की यह प्रथम कृति है। किन्तु यह प्रथम कृति ही इतनी सुन्दर और सहज है कि कवि के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक दृढ़ आस्था होती है। आजकल गीतों का मौसम है, और इस ऋतु में ही सब बहे जा रहे हैं। कवि ने चलती हुई हवा को पीठ देकर पहले ही आलाप में जो भारती की वीणा पर यह महाकाव्य छेड़ा है वह उसके उद्दाम साहस और प्रचुर काव्य प्रतिभा का द्योतक है। महाकाव्य के नियमों पर यह कृति कहाँ तक खरी-खोटी उतरेगी यह निर्णय तो सुधी आलोचक ही करेंगे। किन्तु यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अपने भाषा-सौष्ठव पद-लालित्य दृश्य-योजना वर्णन-विधान चित्रोपम अलंकार-शिल्प नाटकीय वाग्वैदग्ध्य एवम् मर्मस्पर्शी भाव-संयोजन के कारण यह एक सुन्दर सम्पन्न कृति है और अवश्य ही साहित्य में यह एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।

हरिनगपुरी
अलीगढ़

'नीरज'

दो शब्द

एक नहीं अनेका मधुरतम मकरन्द पी चुके सौरभ वह गा चुके उसके गुण आज भी अलिगण पीते हैं अघाते फिर भी नहीं अनन्त वह सौरभ है अनन्त वह मकरन्द है खींचता है बरबस मन का अपनी ओर !

मधुमय सौरभ का लोलुप रसिक मन खिंच ही जाता है बँध ही जाता है विवश जा फँसता है उनमें जो चारों ओर फैली हैं रश्मियाँ अतीत के सौरभ की मधुर मकरन्द की और वे भरे हुए अमिट रङ्गीनियाँ उर पर भरे हुए रेशम की फिसलन सन्ध्या का अनुराग चिपके हैं कितने पक्ष-कोमल-मादक की मनमोहक मधुर तितलियों के उस मकरन्द में !

'दमयन्ती' में उस ही चिरन्तन सौरभ का गायन कुछ भग हो भ्रमर मकरन्द का शायद कोई कण हो !

मैंने चिर-श्रम से सञ्चित किया है जिसे ! उसमें यदि मधु है सुवास है किञ्चित भी निश्चित ही इसका श्रेय उन्हें दूँगा मैं जिनकी पद चाप सुनकर मैं बढ़ सका इस दुर्गम पथ पर जिनका पद-न्यास सतत आमन्त्रित करता रहा है मुझे उन अनुकरणीय श्री प्रभुदत्त जी स्वामी शास्त्री को और उन महाभाग राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त को जिनके मधु-रस-सिक्त सत्काव्यों के आस्वाद से मेरा अकिञ्चन मन प्रेरित हुआ इस ओर !

हमयमी

यदि सौरभ के इस पद्य मे मकरन्द के इस कण से सहृदय पाठकों का अनुरञ्जित हुआ तनिक भी मन तो परम सन्तोष का अनुभव होगा मेरे मन को और मै अपने श्रम को समझूँगा सफल।

ताराचन्द्र हारीत

ग्राम मिवाया
पो० दौराला (मेरठ)
शिव रात्रि श्रावण
सं० २ ११ वि०

आदरणीया

स्नेहमयी जननी के करकमलों में

श्रद्धा के ये संचित-कण

सादर-समर्पित

अम्ब ! बहाती जो-तुम नित नित—
विमल-स्नेह-का सिन्धु !
उससे-ही ले, तुम्हें-समर्पित—
ये, केवल दो बिन्दु !

सर्ग सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९	१९	सोचना	सौंपना
२२	२६	व	पर
३४	१९	मैं	
३५	३३	मरोवों	मरोड़ों
३८	१७	है	वह
४५	२५	छिन्न	भिन्न
४५	२६	भिन्न	छिन्न
४७	६	ही	हो
५१	२१		•
१११	२०	मैं	में
११५	११	मल का	नर का
११७	७	स्रोत	स्रोत
१६१	२८	का	को
२१४	७	हा	ही
२१७	३	पढेय	पढ़ेया
२२५	१२	बुनता	चुनता
२३५	३	मीरमैमि	वैरसेनि
२४२	२८	मज्जन	मज्जन
२७३	१९ व २	है	•
२७६	१०	सुखकर	घूम कर

दमयन्ती

प्रथम सर्ग

धन्य, धन्य है धन्य ! भरत भू तुम हो धन्या
है, माँ ! तुमसी नहीं विश्व-में कोई अन्या
मुकुट तुम्हारा हिमगिरि-से शोभित होता है
पाद तुम्हारे स्वयं, धन्य ! अम्बुधि धोता है,
गंगा यमुना तुम्हें सस्य श्यामलता देती
कोटि कोटि की तरणि सदा माँ ! हो तुम खेती
नर रत्नों से सकल-विश्व छाया माँ ! तुमने
इसीलिए वसुमती नाम पाया माँ तुमने
लिया तुम्हीं ने जन्म बली ज्ञानी मानी को
किया तुम्हीं ने चूर, क्रूर-खल अभिमानी को
तव-पुत्रों ने सकल विश्व-को पाठ पढ़ाया
गर्त-पतित जो रहे, उठाकर उन्हें बढ़ाया
कम्पित होता गगन कि जिनकी हुंकारा-से
निशिचर थे निष्प्राण धनुष की टंकारों से
धन्य ! 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' ध्येय यही था,
एकों अपि सत बहुधा जिनका श्रेय यही था,
आध्यात्मिकता को तुमने ही पाला पोसा,
सत्यं शिव सुन्दर का तुम रहीं भरोसा
चलता है पर, द्वन्द्व-चक्र यह नियति नियम है,
होता सुख परिपूर्ण जब-कि सब दुख का क्रम है,

पर-बन्धन-आबद्ध अरी-माँ ! तुमने होकर,
काटा कितना काल बना जैसे रो-धोकर,
प्रगटी किन्तु विभूति तुम्हीं-से वह कल्याणी
थी कण-कण में व्याप्त हुई जिसकी शुभ-वाणी
सुन हम-वे हुँकार, त्वरित सोते-से जागे
देखेगा अब व्योम कि हम हैं सब-से आगे
जिसका विश्व मत्त रहा अन्ध-सा हो दुष्पथ पर,
थमेंगे न हम भूल एक पद भी उस पथ पर,
मार्ग प्रदर्शन करें किरण आशा की बनकर
झेलें हम दुख स्वय दूसरों के तन तनकर
कर भय-संकट दूर शान्ति के दूत बनेंगे
भ्रान्ति निवारण-हेतु देश में क्रान्ति जनेंगे
हम होंगे जिस ठौर, वहाँ अन्याय न होगा
पर-शोषण-हित कुटिल चक्र दुष्पाप न होगा
कहीं विश्व-में मनुज मनुज का त्रास न होगा
रखने को साम्राज्यवाद अभ्यास न होगा
दुर्बल जन का सबल-हेतु आयास न होगा
भूख-प्यास-से कोई कहीं उदास न होगा
कहीं स्वार्थ से सत्कर्मों-का ह्रास न होगा
रक्त-तृषा के शमन-हेतु, दुर्नाद न होगा
आक्रन्दन आक्रोश नहीं अब ठहर सकेंगे
आधि-व्याधि के मेघ नहीं अब घहर सकेंगे
हम कण्टक बन कभी न खटकें पर-हित मग-में
और भटकने नहीं अन्य-को दें निज-मग-में
वर्ग-स्वत्व का कहीं जगत-मे भेद न होगा
भोगने-मे अन्य-वस्तु, कुछ खेद न होगा
अरी जननि ! तव रोम रोम भी रक्षित-होगा
स्वार्थ-ग्रसित कुछ कार्य न अपना लक्षित होगा,

तापित-तल पर सुधा-शान्ति हम बरसायेंगे
हमको निकट विलोक दुखी-जन हरसायेंगे,
शपथ ! शपथ ! माँ शपथ, तुम्हारे इन चरणों की
धर-कर शिर पर धूल सु-पावन अघ-हरणों की
समझ सौख्य को पाप पुन-निर्माण करेंगे,
रीते-तेरे कोष जिन्हें हम शीघ्र भरेंगे
कार्य-सिद्धि के लिए, न हम पर-मुख ताकेंगे,
जितना हो सुख दुख उसे उतना आँकेंगे
निज कार्यों-में धीर वीरता-लिये जुटेंगे
रोक-सकेगा कौन ! तीर-से जिधर छुटेंगे
अटकेंगे यदि विघ्न हमारे पथ-में आकर,
होंगे चकनाचूर हमारी ठोकर खाकर,
हो संकट-से ग्रस्त न हम कुछ भय-खायेंगे,
सुनें सुजन-आख्यान कि जिससे जय-पायेंगे
सदा सर्वदा यशस्कथा हम क्यों ! भूलेंगे,
हों न दुख-में दुखी न हम सुख में फूलेंगे
गिर जाता है मनुज विपद-के नद-में बहकर,
बन-जाता है ज्योति वही कष्टों को सहकर
नर-का रिपु अभिमान अन्य-रिपु कातरता है,
सघन हृदय सब कहाँ जहाँ-पर आतुरता है
अपने-से भी अधिक सुखी-को सुख-में देखें
अपने-से भी अधिक, दुखी-को दुख-में लेखें
तो जन फिर न अधीर रहे, अभिमान न होगा,
और, दीनता तथा महत-का, ध्यान न होगा,
सुख-दुख पूर्णाख्यान सजोये यों-ही आते
दुख-ग्रसित जन सदा उन्हीं-से सयम पाते,
धन्य ! महाकवि व्यास ! प्रणति तुमको शत-शत है
धन्य मम्मनी मुने ! तुम्हारी विश्वाहत है,

पर-धन-मानस भरी-माँ ! तुमने होकर
काटा कितना काल बना बसे रो-धोकर,
प्रगटी किन्तु विभूति तुम्हीं-से यह कल्याणी
थी कण-कण में व्याप्त हुई जिसकी शुभ-वाणी
सुन हुम-से हुंकार, त्वरित सोते-से जागे
देखेगा अब व्योम कि हम हैं सब-से आगे
विवश विश्व बढ़ रहा भ्रम-सा हो दुष्पथ पर
चलेंगे न हम भूल एक पद भी उस पथ पर,
मार्ग प्रदर्शन करें किरण आशा की बनकर
भोगें हम दुख स्वयं, दूसरों के सन तनकर,
कर भव-संकट दूर शान्ति के दूत बनेंगे
भ्रान्ति निवारण-हेतु देश में क्रान्ति बनेंगे
हम होंगे जिस ठौर, वहाँ अन्याय न होगा
पर-शोषण-हित कुटिल चाक दुरुपाय न होगा
कहीं विश्व-में मनुज मनुज का दास न होगा
रखने को साम्राज्यवाद अभ्यास न होगा
दुर्बल जन का सबल-हेतु आयास न होगा
भूख-प्यास-से कोई कहीं उदास न होगा
कहीं स्वार्थ से सत्कर्मों-का ह्रास न होगा
रक्त-तृषा के शमन-हेतु, दुर्नाश न होगा
आक्रन्दन आक्रोश कहीं अब ठहर सकेंगे
आधि-व्याधि के मेघ नहीं अब घहर सकेंगे
हम कण्टक बन कभी न खटकें पर-हित पग-में
और भटकने नहीं अन्य-को दें निज-मग-में
कृष्ण-श्वेत का कहीं जगत-में भेद न होगा
लौटाने-में अन्य-वस्तु, कुछ खेद न होगा
अरी जननि ! तव रोम रोम भी गर्वित-होगा
स्वार्थ-प्रमित कुछ कार्य न अपना लक्षित होगा,

तापित-तम पर सुधा-शान्ति हम, बरसायेंगे
हमको निकट विलोक दुखी-जन हरसायेंगे
शपथ ! शपथ ! माँ शपथ, तुम्हारे इन चरणों की
धर-धर सिर पर धूल सु-पावन भय-हरणों की
समझ सौम्य को पाप पुन-निर्माण करेंगे
रीते-तेरे कोष जिन्हें हम शीघ्र भरेंगे,
कार्य-सिद्धि के लिए, न हम पर-मुख ताकेंगे,
जितना हो सुख दुःख उसे उतना आँकेंगे
निज कार्यों-में धीर वीरता लिये जुटेंगे
रोक-सकेगा कौन ! तीर-से जिधर छुटेंगे
भटकेंगे यदि विघ्न हमारे पथ-में आकर,
होंगे चकनाचूर हमारी ठोकर खाकर
हो संकट-से ग्रस्त न हम कुछ भय-खायेंगे
सुनें सुजन आख्यान कि जिससे जय-पायेंगे
सदा सर्वथा यशस्कथा हम क्यों ! भूलेंगे
हों न दुःख-में दुखी, न हम सुख में फूलेंगे,
गिर जाता है मनुज विपद-के नद-में बहकर,
बन-जाता है ज्योति वही कष्टों को सहकर,
नर-का रिपु अभिमान अन्य-रिपु कातरता है,
सरस हृदय तब कहाँ जहाँ-पर आतुरता है
अपने-से भी अधिक सुखी-को सुख-में देखें
अपने-से भी अधिक दुखी-को दुख-में लेखें
तो, बस फिर न अधीर रहे, अभिमान न होगा,
और, दीनता तथा महत-का ध्यान न होगा
सुख-दुख पूर्णाख्यान सजाये या-ही जाते
दुःख-ग्रसित जन सदा उन्हीं-से सबल पाते,
धन्य ! महाकवि व्यास ! प्रणति तुमको शत-शत है
धन्य लेखनी मुने ! तुम्हारी विश्वाहत है,

भर अपूर्व भण्डार, भारती-माँ-का तुमने
पाया अतुलित-प्यार, भारती-माँ-का तुमने,
गूँज रही सर्वत्र सुधा-सिञ्चित तव वाणी
करे प्रमाणित कौन ! कि वह कितनी कल्याणी,
है मुझमें सामर्थ्य कहाँ ! कुछ-भी कहने की
खेद ! किन्तु है शक्ति न जो चुप भी रहने की

कुटिल चाल में जब कुरुपति ने पाण्डव फाँसे
इन्द्रप्रस्थ से धुला लिवाये-उनको पासे
था दुष्कारण हुआ वही भारत-क्रीडा का
मिला धर्म-को कुफल चूत की कुक्रीडा का
भरी-सभा-में गई बुलाई फिर पाञ्चाली
चहरी दुख की घटा गगन-में घिर घिर काली
पा कुरुपति आदेश गये-फिर पाण्डव वन में
अह ! भारत-सम्राट बने-याचक-से क्षण-में
दुख-में देती छोड़ चिह्न कैसे सखियों-के
मत द्रौपदी संग-गई अपने पतियों-के
था नूतन अभ्यास विपिन की भारी बाधा
जैसे तैसे बना धर्म ने निज-को साधा
पर अनुजों-को देख व्यथित ही थे वे रहते
सुनते विविधाख्यान वहाँ ऋषि मुनि जो कहते
भोजन था फल-कन्द भूमि-पर ही सो जाना
फटे-पुराने वस्त्र और दारुण दुख-नाना
सुनकर ये सब दुःख युधिष्ठिर-सौम्य अतुल-के
पहुँच गये वृहदश्व पुरोहित-पाण्डव-कुल के
पा नृप-से सत्कार, सुनायीं बहुत कथायें
सुन समयोचित वचन विगत कुछ हुईं व्यथायें,

धर्मराज ने कहा—हाय ! मेरे ही कारण,
दासी-का सा वेश द्रौपदी करती धारण,
और अनुज ! जिस दिशा जिन्होंने मल-से जीती,
भीम पार्थ सहदेव नकुल पर यह क्या-बीती,
व्याकुल नृप-को देख पुरोहित बोले-ऐसे,
होते कहीं अधीर भला ज्ञानी तुम जैसे,
जब हम सब-से भिन्न स्वयं-को जग-में पाते
दैन्य अहम् के भाव, तभी घिर-घिर कर आते
अति-विपन्न-को देख, करो ! अपना दुख-सीमा,
भूप ! विश्व-में कहीं न है, दुख सुख-की सीमा

'किन्तु देव ! दुर्दैव-ग्रस्त, क्या-मुझसा-पापी—
रहा विश्व-में कहीं अभागा—विषम-वितापी"

"भूप ! विश्व-में नहीं, तुम्हारे इसी देश-में,
तुमसे ही सम्राट, रहे-जो इसी वेश में,
विधु-वदनी नलराज, भाग्य-के खाकर झटके,
वर्ष चतुर्दश इसी भाँति वन वन-में भटके'

"इनसे तो मम हुए, रही मुझसी क्या-कोई,
हाय ! अभागी कहीं द्रौपदी कहकर रोई"

"भद्रे ! तुमसे अधिक दुखी देवी दमयन्ती,
मारी मारी फिरा, विपद्-ग्रस्ता गुणवन्ती,

किन्तु विपद मय जमिन दुखों से मार्ग न मोड़ा
जो भी प्रण कर लिया न फिर उससे मुंह मोड़ा
जिज्ञासा अब और बढ़ी देखी कृष्णा की,
पूर्ण सुनाई कथा विगत जिससे तृष्णा की
सुनकर यह आख्यान हुआ उनका मन हलका
समझा अपने से भी अति-दुख नृप-ने नल-का
उसी कथा-को आज यहां मैं चला सुनाने
करने जिह्वा पूत और मन-में सुख पाने
विज्ञ-जनों के वचन ग्रहण कर जहां-तहां-से
गूंथ-दिये ये सुमन लिए जो-मिले जहां से
यद्यपि य निर्गन्ध हुए मेरे छूने-से
किन्तु, हुए जो मनुज विपद मे पड उने-स
पढ़कर यह आख्यान अभाव भरे, यदि उनका
हूंगा-मैं कृतकृत्य दुखौघ हरे यदि उनका
दो पद भी दे-सके विपद-मे कहीं सहारा
तो-समझूंगा तभी सफल श्रम अपना सारा

दुखद दिन वे बीत-के अब गत-हुए,
जो उठे-से बक्ष जो-थे हत-हुए,
आ-गया ऋतुराज अब सर्वत्र है,
छा-गया सुख साज अब सर्वत्र है
शीत-हत तरु-पत्र जो थे छूट-गये,
सुखद डाली हाय ! जो थे टूट गये
कोंपलें उनमे निकलने अब लगीं
सुप्त-सी वह शक्ति उन सब की जगी
विविध-विधि नव-रस सभी धारण-किये
वेश हैं य सब असाधारण किये

मुस्करा पुष्पों-सहित कैसे रहे
सौम्य इनका आज कोई क्या - कहे
वे घनी उस ओर खिलने को कली
य इधर वल्ली सुसज्जित हैं भली
आज-भारे मुग्ध उत्सुक हो-रहीं
आज सब मालिन्य अपना खो-रहीं
ज्यों वियोगिन प्रियतमागम सुन महा
हा सुसज्जित और मुद-मानी महा
ये इधर वञ्जुल अशोक उधर-खड़े
नाम-के अनुरूप ही हर्षित बड़े
वे-लताएँ वेष्टिता कर वक्ष-से
हैं रसाल खड़े-हुए, वर कक्ष-से
प्राप्त रात सुहाग-सी रस-छूटत
प्रेम-के बन्धन सुदृढ़ कब ! टूटते
छू रहे उस ओर नभ को ताड़ हैं
या-स्वय ये मौन-नभ-की आड़ हैं
इधर शतपत्री कदलियों से भिरी,
लग रहीं मानों घटा विधु-पर फिरीं
केतु-सा लहरा रहा है केतकी
वाढ़ रक्षक-सी खड़ी है क्षत-की
मल्लिका सह माधवी चम्पा कहीं
यूथिका वासन्तिका कुब्जक यहीं
बाँटता यह, इधर गन्ध कदम्ब है,
पर, न दृग्गोचर कहीं कटु-निम्ब है
स्वर्ण-जाति सुवासिकी मन्दक खड़े
माधवी-युत, कर्णिकार मुदित - बड़े
विविध-तरु परिपूर्ण सुन्दर-स्थान है,
क्या न होता जब कि राजोद्यान है

पुष्प फल तरु-वृक्ष जितने हैं यहाँ
दृष्टि-पथ अन्यत्र आयंगे कहाँ
क्यारियाँ मेंड़ों-सहित जो तन रहीं
और भी नव-नव-कुसुम वे जन रहीं

विविध-कुल्या मध्य इनके बह रहीं
सींचकर उद्यान को जो रह रहीं
बीच में बह, एक सर सु-विशाल है
तन रहा इन्दीवरों का जाल है
नील-नीरज है कहीं है सित कहीं
कुमुदिनी हैं मुद भरी शोभित यहीं
पङ्कजों-से झड़ रहा मकरन्द है
पान जिसका कर रहा अलि वृन्द है
चतुर्दिक सोपान सर-के अड़ रहे,
अश्म हैं बहु-मूल्य जिन-पर जड़ रहे
यत्र तत्र सुमंच विश्रामार्थ है,
बैठते जिनपर मनुष्य श्रमार्त्त है,
बैठकर रथ-पर दिवाकर आ-गये
कर-निकर सर्वत्र जिनके छा-गये
खिल-उठे उत्पल अतः पल में सभी
अनिल प्रेरित ऊर्मि आती है कभी
ओस के वे बिन्दु, पत्रों-पर पड़े
हार-में मानों-कि मुक्ता हैं जड़े
मुदित-पिक-का छिड़-गया वह गान है,
दे-रही विहगावली यह तान है
हंस-गण मधु-गान करता आ गया
वह जिसे निज प्राप्य प्रिय-सर पा गया

कर रहे कल-केलि दल-जलधर सभी
आ रहे, चलकर इधर कुछ हैं अभी
क्या-हुआ ! यह-सब जमा-है रंग क्यों ?
दीख - पड़ती प्रकृति भी स उमङ्ग यों
दे रही किस भव्य का सत्कार—यह,
और ! स्वागत-का उचित आचार—यह,

निकल कर उस ओर ! पुष्प निकुञ्ज-से
परम-सुन्दरता-भरे, उस पुञ्ज से
आ रहीं इस ओर, जो बाला भलीं
सज गई इस हेतु, सब रंगस्थली
ये सभी सज्जित मनोहर-वेश से
हैं सु-शोभित स्कन्ध सब-के केश से
लग रहा ज्यों स्वर्ग को तजकर कहीं
देव-बाला भूल आ-भटकीं यहीं,
मध्य इनके आ रही, जो सुन्दरी
है वही सविशेष सब-से द्युति-भरी
हरित-पट शोभा बढ़ाते गात्र - की
उचित भूषा - भी वही इस पात्र - की
कुच बढ़कर स्पर्ध कटि-का कर-रहे,
पङ्कजों के-दर्प को दृग हर रहे,
छू-रहे हैं कृष्ण-दृग युग-कर्ण को,
वर्ण—लज्जित कर-रहा है स्वर्ण—को,
नाक, शुक-सी, वदन-मध्य रदावली,
भर रही ज्यों शुक्ति-में मुक्तावली,
चिबुक परम-मनोज्ञ, विस्तृत भाल है,
अक्षियों-पर, पक्ष्म-का घन जाल है,

पुष्प फल वर-वृक्ष जितने है यहाँ
दृष्टि-पथ अन्यत्र आयेंगे कहाँ
क्यारियाँ मेंड़ों-सहित जो तन रहीं
और भी नव-नव-कुसुम से जम रहीं

विविध-कुल्या मध्य इनके बह रहीं
सींचकर उद्यान को जो रह रहीं
बीच में वह, एक सर सु-विशाल है,
तन-रहा इन्दीवरों का जाल है
नील-नीरज है कहीं है सित कहीं
कुमुदिनी है मुद भरी शोभित यहीं
पंकजों-से झड़ रहा मकरन्द है,
पान जिसका कर रहा अलि वृन्द है,
चतुर्दिक सोपान सर-के सज रहे
अश्म हैं बहु-मूल्य जिन-पर जड़ रहे
मत्र तत्र सुमध्य विश्रामार्थ है,
बठते जिनपर मनुष्य अमात्य है,
बैठकर रथ-पर दिवाकर आ-गये
कर-निकर सर्वत्र जिसके छा-गये
खिल-उठे उत्पल शत पत्र मे सभी
अनिल प्रेरित ऊर्मि आती हैं कभी
ओस के से बिन्दु, पत्रों-पर पड़े
हार-में मानों-कि मुक्ता हैं जड़े
मुदित-पिक-का छिड़-गया वह गान है,
दे रही विहगावली यह तान है,
हंस-गण मधु-गान करता आ गया
वह जिस निज प्राप्य प्रिय-सर पा गया

कर रहे जल-केलि जल-जलचर सभी
आ रहे चलकर इधर कुछ हैं अभी
क्या-हुआ ! यह-सुख अमा-है रग क्यों ?
दीख पड़ती प्रकृति-भी स - उमङ्ग यों
दे रही किस भव्य का सत्कार—यह,
और ! स्वागत-का उचित आचार—यह,

निकल कर उस ओर ! पुष्प निकुञ्ज-से
परम-सुन्दरता-भरे, उस पुञ्ज - स
आ रहीं इस ओर, जो बाला बसीं
सज गईं, इस हेतु, सब रगस्थमीं
मे सभी सज्जित मनोहर-वेश स
हैं सु-शोभित स्कन्ध सब-के केश से,
मग-रहा ज्यों स्वर्ग को तजकर यहीं,
देव-बाला भूल, आ-भटकीं यहीं,
भव्य इनके आ रही, जो सुन्दरी,
है यही सविशेष सब-से द्युति-भरी
हरित-पट शोभा बढ़ाते गात्र - की
उचित भूषा - भी यही इस पात्र - की
केश बढ़कर स्पर्श कटि-का कर-रहे,
पकजों के-दर्प को दृग हर-रहे,
छू-रहे हैं कृष्ण-दृग युग-कर्ण को,
वर्ण—लज्जित कर रहा है स्वर्ण—को,
नाक, शुक-सी, वदन-मध्य रदावली,
भर रही ज्यों शुक्ति-में मुक्तावली,
चिबुक परम-मनोज्ञ, विस्तृत भाल है,
अलियों-पर, पदम-का घन जाल है,

पुष्प फल वर-वृक्ष जितने हैं यहाँ
दृष्टि-पथ प्रत्यक्ष आयेगे वहाँ
क्यारियाँ मेंढ़ों-सहित जो तन रही
और भी नव-नव-कुसुम वे जन रहीं

विविध-कुल्या मध्य इनके बह रही
सींचकर उद्यान को जो-रह रहीं
बीच में वह, एक सर सु-विशाल है,
तन रहा इन्दीवरों का जाल है
नील-नीरज हैं कहीं हैं सित कहीं
कुमुदिनी है मुद भरी शोभित यहीं
पंकजों-से झड़ रहा मकरन्द है,
पान जिसका कर रहा अलि वृन्द है,
मणिविक सोपान सर-के गढ़ रहे
अश्म हैं बहु-मूल्य जिन-पर जड़ रहे
यत्र तत्र सुमंच विश्रामार्थ हैं,
बैठते जिसपर मनुष्य श्रमार्त हैं,
बैठकर रथ-पर दिवाकर आ-गये
कर-निकर सर्वत्र जिनके छा-गये
खिल-उठे उत्पल अत पल में सभी
अनिल प्रेरित ऊर्मि आती हैं कभी
ओस के व बिन्दु, पत्रों-पर पड़े
हार-मे मानों-कि मुक्ता हैं जड़े
मुदित-पिक-का छिड़-गया वह गान है,
दे रही विहगावली यह तान है
हंस-गए मधु-गान करता आ गया
वह जिसे निज प्राप्य प्रिय-सर पा गया,

कर रहे जल-केलि थल-जलचर सभी
आ रहे, चलकर इधर कुछ हैं अभी
क्या-हुआ ! यह-सब जमा-है रंग क्या ?
दीख पड़ती प्रकृति भी स - उमङ्ग यों
दे रही किस भव्य का सत्कार—यह,
और ! स्वागत-का उचित आचार—यह,

निकल कर उस ओर ! पुष्प निकुञ्ज-से,
परम-सुन्दरता भरे, उस पुञ्ज से
आ रहीं इस ओर, जो बाला सभीं,
सज गईं इस हेतु, सब रंगस्पर्शी,
ये सभी सज्जित मनोहर-वेश से
हैं सु-शोभित स्कन्ध सब-के केश से,
लग रहा ज्यों स्वर्ग - को तजकर कहीं
देव-बाला भूल आ भटकीं यहीं,
मध्य इनके आ-रही, जो सुन्दरी,
है वही सविशेष सब-से द्युति-भरी,
हरित-पट शोभा बढ़ाते गात्र - की,
उचित भूषा - भी यही इस पात्र - की;
केश बढ़कर स्पर्श कटि-का कर रहे,
पङ्कजों के-दर्प को दृग हर-रहे,
छू-रहे हैं कृष्ण-दृग युग-कर्ण को,
कर्ण—सज्जित कर रहा है स्वर्ण—को,
नाक, शुक-सी, वदन-मध्य रदावली,
भर रही ज्यों शुक्ति-में मुक्तावली,
चिबुक परम-मनाश, विस्तृत भाल है,
भ्रकुटियों-पर, पद्म-का घन भास है,

अवस कर परिधान मञ्चासीन थीं
देख उनको स्वयं सुषमा हीन थी

बास काले-श्याम मे फटकार कर
मेघहर परिधान तन पर धारकर
नाम के अनुरूप मञ्जुल-केशिनी
कह उठी मधु वचन भाषी-केशिनी
भामिनियो ! प्रस्ताव मेरा है अभी
पुष्प आभूषण रचें आओ ! सभी
फिर कुमारी को उन्हें पहनायगी
स्वर्ग का यों सुमन भू पर लायेंगी,
देखना ! फिर अमरपुर से सुर-सभी
दर्शनोत्सुक आयेंगे इसके अभी,
विश्व में ऐसी अहा फिर सुन्दरी
खोजने से भी न पाये द्युतिभरी
शत-गुणित हो जायगी यह रूप - श्री
स्वर्ण में शुचि-बास मानो आ बसी
मुस्कराकर कुटिल भ्रू-धनु तानकर,
केशिनी को सख्य अपना मानकर,
भीमजा रोके उधर जब तक कहीं,
इधर पारित हो गया प्रस्ताव ही,
कुसुम गण पर बस पड़ीं कुसुमाङ्गुलीं,
अब लगी माला बनाने वे सभी,
भीमजा साग्रह अहा, लाई गई
पास पर ही विवश बैठाई गई,
माल ही ला दी, गले में स्रज - अहा,
कर, उरोज-स्पर्श पुष्प हँसे-महा,

नत-नयन शुचि-वदन उसको हेरकर,
मुदित आली चाल में अह ! घेर कर,
दिव्य मञ्जुल साज से सज्जित किया
सब स्वयं रति-को अहा ! लज्जित किया
गुँथ गये जब कुसुम वेणी-पाश में
छिटक-से तारे गये आकाश में
अर्कजा दीपावली से सोहती
जगमगाती ज्योति, मन को मोहती
शान्त विष अह विषधरों का हो गया
निशा का बीहड़ तिमिर भी खो गया
कर्ण युग में झूमके झूमे भले
साथ ग्रीवा के स्वयं ही जो चले
ढक लिया यौवन गले के हार ने
की सुशोभित आह वीणा तार ने
तनिक पहले पुष्प जो उद्विग्न थे,
लता से अपनी हुए वे भिन्न थे
मुस्कराते थे वही अब हर्ष से
सुख नहीं मिलता किसे ! उत्कर्ष से,
काष्ठ की वे सब लता थीं कण्टकित
अब मिली थी हेम की काँटों रहित,
कङ्कणों से कर युगल बोझिल हुए,
कमल थे श्वास से बोझिल हुए,
क्षीणता की ओर को जो थी झुकी,
कटि वही अब करधनी से बँध रुकी,

सज गई आपाद अब नृप नन्दिनी,
धार कुसुमाभरण वन-देवी बनी,

हो गई अब द्विगुण वासन्ती - छटा
मोद भर माने लगी अलि गण-घटा,
भासियाँ उनको लगीं सब वार ने,
पर विवश अलि गण किया था प्यार ने
ज्योति उसकी देखकर सुषमामयी
ध्यान होता सज्जिता रति आ गई

मेदिनी बोली कि देखो इन्दु को
लहरते सौन्दर्य के इस सिन्धु को
अरुणिमा में पूर्ण लोल कपोल य
हैं रचे विधि ने स्वयं रस घोल य

भाग्यशाली कौन ! वह होगा अरे !
मनुज ही जो, सुर - सुधा सेवन करे,
पर न यह मानव अमर का भोग्य है
मनुज कोई भी न इसके योग्य है,
रत्न जब यह, विश्व को विधि ने दिया
तो न इसके योग्य क्यों मानव किया
वार देता, प्राण जो इस पर यहीं
गर्व करता भाग्य पर, आली सही !
कुमता-मानन गुराई से भरा
स्वर्ग से सविराप होती यह धरा,
दूसरी सखि - बाथ यों कहने लगी
केदिनी ! किस ओर तुम बहने लगी
सोचकर तुमने कहा कुछ भी नहीं
क्या न इसके योग्य - नर कोई कहीं,

है यथा अपनी सखी वर-रूपिणी,
सुने हैं—रूपों - रूप के नल - भी धनी
महा - सखि ! उनसे अगर सम्बन्ध हो
तो - अवश्य सुवर्ण में सद्गन्ध - हो,
जा मिले जल-वाहिनी-सी सिन्धु - से
चाँदनी-सी शुभ्र मोहक इन्दु - से
उधर - हों नलराज भी कृतकृत्य तो
और, जायेंगे इसी के भृत्य हो,
समझ लो इच्छा कुमारी की यही
किन्तु, श्री-मुख - से कहेंगी ये नहीं,
खीझकर, नृप-नन्दिनी से वह तभी,
क्रोध का आवरण-सा मढ़कर सभी
कर बढ़ा—चाहा कि मैं पकड़ूँ इसे
धृष्टता का दण्ड दूँ जकड़ूँ इसे
हट गई, वह दूर, किन्तु सुहासिनी,
रह गई नृप-सुता विफलायासनी
विविध बातें फिर वहाँ चलने लगीं
किन्तु, वह हृत्ताप से जलने लगी
थी प्रथम - भी बात यह, उसने सुनी,
परम सुन्दर नल, कि - हैं अति ही गुणी,
कर्ण-युग में वाक्य यह गूँजा - किया
समझने जिसने न कुछ उसको दिया,
'महा - सखि ! उनसे अगर सम्बन्ध हो
तो, अवश्य सुवर्ण में सद्गन्ध हो'
हों मुझे वे प्राप्त अब किस रीति से,
फल निकलता कुछ न अदृष्ट प्रीति से,
भेंट यदि उनसे कहीं होती अहा !
तो, कठिनता फिर न यह आती महा,

किन्तु, मुझको वे न यदि स्वीकृत करें,
हो दयालु, न वेदना मेरी हरें,
तो चरण मैं पकड़ भूगी दौड़कर
प्रार्थना सविनय करूँ कर-जोड़कर
पर, न मुझसे कृत्य यह होगा कभी
क्यों कि ऐसे लाज आयेगी सभी
हाय ! पर क्या लाज है कुल की यही
ध्यान जो मैं यों पुरुष का कर रही
आर्य-कन्या हाय कब ऐसा करें !
ध्यान वे जिसका करें, उसको वरें,
भत सावित्री विपद-नद में बही
प्राप्त ही वे सत्य को करके रहीं
कर चुकीं घनघोर तप गिरिनन्दिनी
और, हर-ध्यानस्थ की वामा बनी
ध्यान केवल चित्त में जिसका किया
अन्तत उसको उन्होंने वर लिया
वे न निज-संकल्प से किञ्चित हटीं
लाख-बाधायें यदपि पथ में डटीं
सोचना सर्वस्व अपना है जिसे !
क्यों न ! फिर सोचूं कि सौंपूंगी किसे !
और, फिर अब सोचने की शक्ति है,
उचित ही सब चिन्त्य मे अनुरक्ति है,
ध्येय को मैं अब न यदि पाऊँ कहीं,
पापिनी तो तब गिनी जाऊँ सही
माग सावित्री दिखा हमको गई,
जो स्वयं नीचा दिखा यम को गई
नारि का जग में पतिव्रत धर्म ही
है परम भूषण, तथा शुभ कर्म ही,

यही तो जननी सिखाती नित्य है
नारियों का धर्म, पातिव्रत्य है
ईश ! दो अब शक्ति निज पथ पर बढ़ू,
चिन्त्य अपना प्राप्त ही करके हटू
एक बस निरुपमेय मेरे नाथ - हों
लाज मेरी सब उन्हीं के हाथ हो
वर लिये निरुपमेय निरुपम ! वर लिये
अनुचरी मैं देव के निज कर लिये
रोक अब कोई ! मुझे सकता नहीं
देव ! अब तुम छुट न जा सकते कहीं
हे प्रभो - ! वर दो सफल हो कामना
विघ्न सब हट जाँय, हो यदि सामना
इष्ट यदि मम को परीक्षा हो कभी
सज्जिता हो, लो मिलूँ सम्मुख खड़ी,
भाव नाना वेग से यों ही चले
कौन ! जग में कल्पना न जिसे छले

"सोच तुम जग को रही हो क्या सखी !
प्रेम - नद में बह गई हो, क्या सखी !
पुष्प चय कितना करी ! हमने किया
सच कहा ! किसको हृदय तुमने दिया,
हाथ पर धर चिबुक बोली केशिनी
चौंक सब सकुचा गई, वर-वेशिनी,
स्वस्थ सी हो भीमजा बोली तभी,
सुधा सी, सखि श्रवण में, घोली तभी
भाव निज मन के तिरोहित थे किये,
प्रियतमा करती न क्या ! प्रिय के लिये"

हे सखी ! यह हंस देखो तो सही
देखती अब तक कि मैं जिसको रही
हंसनी उस ओर जाती दौड़कर,
और, यह इस ओर आता मोड़कर
दे रहा इस भाँति उसको कष्ट है
क्या कहूँ, कितना अरी ! यह धृष्ट है
सोचती - थी चित्त में मारूँ इसे !
केशिनी ! कुछ दो मुझे मारूँ इसे'

'दृश्य यह सखि ! छोड़ क्रीड़ा देखलो !
हंस दम्पति की सु - क्रीड़ा देखलो !
सीखलो अवसर निकल फिर जायगा
फिर न विकल आलि ! ऐसा पायगा
प्रेम का यह खेल आलि ! न नष्ट है,
देखलो ! इस युगल का सुख स्पष्ट है
है गुणज्ञे ! नियम यह अभिसार का
मौन है संकेत स्वीकृत प्यार का'

बात कैसी भी कहे कोई कहीं
झाड़ देती वक्तृता तुम हो यहीं
चुप रहो, बनने चली हो पण्डिता
बोलने तक का न तुमको है पता
घर चलो ! अब बहुत ही दिन चढ़ गया
देखलो रवि रथ कहाँ तक बढ़ गया
चल पड़ी यों भीमजा, कहकर तभी,
साथ ही सखियाँ - चलीं, उसकी सभी

युक्ति उसकी काम सहमा कर - गई
वह विनोदामृत सरित रोकी नई
पूर्ण कर देवार्चना माता - जहाँ—
सोत्सुका बैठीं सुता पहुँची - वहाँ
विनय-स निज - अम्ब पद - युग परस-कर,
पा - लिया आशीष शुभ कल्याण कर,
छिड़ा सुखदालाप आशा-सी जगी,
अम्ब-पद बैठी उमा मम वह - सगी
फल विखरे वाद्य सहसा अब उठ—
सुन जिन्हें, सब दास दासी सब उठे
'दान्त' 'दम' युग अनुज को अनुगत किये
कक्ष में, सुस्मित दमन ने पद दिये
देव ही सिशु - रूप - धर मानो महा—
आ - गये हों नेत्र सुख वर्षी महा
झुक गये माँ पदों में तीनों अरे !
मुग्ध - माँ ने अक - में तीनों भरे,
प्राप्त थी तिरस्करणा प्रत्यक्ष सी
साधना - सम्पूर्ण दिव्य समक्ष सी
निकट - बैठाये, कथन कर 'शत जियो'
मार्ग दुम हो और सौख्यामृत - पियो
पूर्ण थी अब - सभी - की नित्य - क्रिया
ध्यान फिर सब ने स्व कार्यों में दिया,
'नृप सुता' अस्वस्थ सी, हृद था हिला,
आज नूतन पाठ जो वह था मिला,
प्रेम नद मन - में हिलोरें था लिये,
और वह, असफल-नियन्त्रण थी किये,

रवि-से पीछे दमयन्ती - को देखा सदा उदास
कभी न उसके चन्द्रानन-पर मिला पूर्व-सा हास
क्रीड़ा-कलित देख हंसों-को, सुनकर पिक-का गान
नृत्य मयूरों का करता था कुछ परिवर्तित ध्यान
किन्तु, छिपाये सदा - रही
अपनी पीड़ा आप सही
किये अनेक प्रयत्न थकी—
किन्तु न प्रिय को भुला सकी।

द्वितीय सर्ग

"निषध" नामक यह विस्तृत देश
जहाँ-से है दुख दूर अशेष
दिनों-दिन होती जाती वृद्धि
देखती चारो ओर समृद्धि,
न होता दृग्गोचर जन-क्लान्त
सभी हैं, शिष्ट, शान्त सम्भ्रान्त
सभी के नीति-बुद्धि-युत-न्याय
यहाँ-पर शिक्षा है अनिवार्य
श्रमिक, करते हैं, श्रम जी-तोड़
लगाकर खूब परस्पर होड़
और धन पाते हैं पर्याप्त
कि-जिससे उन्हें, सभी सुख प्राप्त
योग्य है कृषकों-का समुदाय
करे वह, स्वयं स्व-सौख्य उपाय
भूमि-से उपजाते धन-धान्य
सभी जन, इन्हें समझते मान्य
न इनको कभी सताती ईति
न नृप-से भी है ऐसी भीति—
कि कल को वह लेगा भू-छीन
और, हम रह जायेंगे दीन'
उपज-का दशम-अंश वे धन्य,
नृपति-को देते सदा प्रसन्न
राष्ट्र हितकारी उसको मान—
मुदित हो लेते भूप महान,

तब-से पीछे दमयन्ती को, देखा सदा उदास,
कभी न उसके चन्द्रानन-पर मिला फूल-सा हास,
क्रीड़ा-कलित देख हंसों-को सुनकर पिक-का गान
नृत्य मयूरों का करता था, कुछ परिवर्तित ध्यान
किन्तु, छिपाये सदा रही
अपनी पीड़ा आप सही
किये अनेक प्रयत्न थकी—
किन्तु न प्रिय को भुला सकी।

द्वितीय सर्ग

"निषध" नामक यह विस्तृत देश
जहाँ-से है कुछ दूर प्रक्षेप
दिनों-दिन होती जाती वृद्धि
दीखती चारों ओर समृद्धि
न होता दृग्गोचर जन-क्लान्त
सभी हैं, शिष्ट शान्त सम्भ्रान्त
सभी के नीति-बुद्धि-युत-कार्य
यहाँ पर शिक्षा है अनिवार्य
श्रमिक करते हैं, श्रम जी-तोड़
लगाकर खूब परस्पर होड़
और धन पाते हैं पर्याप्त
कि-जिससे उन्हें, सभी सुख प्राप्त
योग्य है कृषकों-का समुदाय
करे वह, स्वय, स्व-सौख्य उपाय
भूमि-से उपजाते धन-धान्य
सभी जन इन्हें समझते मान्य
न इनको कभी सताती ईति
न नृप-से भी है ऐसी भीति—
कि रस को यह लेगा भू-छीन,
और, हम रह जायेंगे दीन'
उपज-का दशम भाग दे अन्न,
नृपति-को देते सदा प्रसन्न
राष्ट्र-हितकारी उसको मान—
मुदित हो लख नृप महान,

तब-से पीछे दमयन्ती को देखा सदा उदास
कभी न उसके चन्द्रानन-पर मिला पूर्व-सा हास,
क्रीड़ा-कलित देख हंसों-को सुनकर पिक-का गान
नृत्य मयूरों का करता था कुछ परिवर्तित ध्यान
किन्तु, छिपाये सदा रही
अपनी पीड़ा आप सही,
किये अनेक प्रयत्न थकी—
किन्तु न प्रिय को भुला सकी।

द्वितीय सर्ग

"निषध नामक यह विस्तृत देश
जहाँ-से हैं दुख दूर अशेष
दिनों-दिन होती जाती वृद्धि
खेलती चारों ओर समृद्धि,
न होता दुराचार जन-अशान्त
सभी हैं, शिष्ट शान्त सम्भ्रान्त
सभी के नीति-बुद्धि-युत-कार्य
यहाँ-पर शिक्षा है अनिवार्य
श्रमिक, करते हैं, श्रम जी-तोड़
लगाकर खूब परस्पर होड़
और धन पाते हैं पर्याप्त
कि-जिससे उन्हें, सभी सुख प्राप्त
योग्य है कृषकों-का समुदाय
करे वह, स्वयं स्व-सौख्य उपाय
भूमि-से उपजाता धन-धान्य
सभी जन इन्हें समझते मान्य
न इनको कभी सताती ईति
न नृप-से भी है ऐसी भीति—
कि कर को वह लेगा भू-छीन
और, हम रह जायेंगे दीन'
उपज-का षष्ठम - भाग व अन्न,
नृपति-को देते सदा प्रसन्न
राष्ट्र-हितकारी उसको - मान—
मुदित हो सतत भूप महान,

उसी-से विविध मान-सामान
उन्हें करते-से नित्य प्रदान
राज्य-मे विस्तृत कुल्या जाल
और निर्मित हैं कूप-विशाल
सिंचाई-का करते जो-काम
घने-हैं कहीं सुखद आराम
बीज सब नव देकर प्रति-वर्ष
राज्य कृषि-का करता उत्कर्ष
राजपथ जाते-हैं सब ओर,
घिरे-तरुओं-से जिनके छोर
प्रमाणालय वे शिक्षा सद्म
जहाँ खिलते अभिनव शिशु पद्म
सैन्य-शिक्षा भी है, अनिवार्य
सभी गुरु-कुल करते यह कार्य
पंगु विधवा अथवा दृगहीन
कर्म-मे हैं अयोग्य जो-दीन
सभी-का करता राज्य प्रबन्ध
अतः वे भी सब हैं सानन्द
चतुष्पद और द्विपद-के-हेतु,
चिकित्सालय हैं, दृढ़तम-सेतु,
जहाँ रोगों का पारावार,
सभी तरते होकर साधार
न वाञ्छित-शुल्क न्याय-के अर्थ
दण्ड-पाते सम, दीन समर्थ
प्रजा-है सभी प्रकार प्रसन्न
पूर्ण है उस पर धन व अन्न,
सभी की सुन्दर देह-विलास,
गठे तन भट-सम उन्नत मास

देख कोई भी उनके कार्य
कहेगा उन्हें कि ये हैं आर्य
सुखद हैं उनका-सब व्यवहार
मान्य-हैं, सब प्रथम आचार,
न सेवन करते मादक - द्रव्य
प्राप्त हैं सर्पि दुग्ध दधि गव्य
घड़े-से स्तन वाला गो-वन्द
बहाता गो रस सिन्धु अमन्द
उपस्थित रहता वह दिन-रात
ओर हैं कामधेनु-से गात,
न होता दृग्गोचर धन-मद
गृही करते नित नूतन-यज्ञ
न जनपद-में कोई है चोर,
मुके-ऋषि आत्म ज्ञान की ओर

वहाँ-की जनता यों-सम्पन्न
वहाँ-का राजा-भी है धन्य
देव-सम उसका कान्त-शरीर,
सकल-गुण-युक्त धीर, वर-वीर
वृहद् युग-लोचन, विस्तृत भाल
युगल भुज हैं आ-जानु विशाल
बने व वक्ष-क अनुपम-कोष
वक्ष हिम-गिरि-सा है निर्दोष,
हृदय-है अतुल धैर्य-का स्थान,
और, ग्रीवा-है सिंह-समान,
कर चुके, विधिवत विद्याभ्यास,
वास-कर निज कुल-गुरुके-पास,

समर-में उनका वह कोदण्ड
छोड़ता-है जब बाण प्रचण्ड
और, इग-युग, बरसाता-ज्वाल
दीखते तब वे काल-कराल
न टिकते रिपु फिर कहीं-समक्ष
भागकर-होते भीत अलक्ष
स्वयं को जन-मन रक्षक-मात्र
समझते हैं नल राज सु-गात्र
प्रजा हित-में ही आठों-याम—
दीखते-है करते-शुभ काम
जहां-तक उनका अधिकृत देश
वहां-तक है सुख वास विशेष
तुष्ट हैं सभी-साधु-विद्वान
दुष्ट को दण्ड मान्य-को मान
धर्म-द्विज गो-सेवा सविशेष
मुदित-हो करते सदा-नरेश
दिनों-दिन बढ़ता है तरु-धर्म
सीखते-हैं जिस को शुभ-कर्म,
नीति-में है भूपति निष्णात
समझते उन्हें प्रजा-जन भ्रात
जहां गुण नृप में भरे अनेक !
वहां अवगुण-भी उनमें एक—
छिपा-है कि वे खेलते द्यूत
हुए-पर इससे वे न अपूत
क्योंकि इसमें न नृपति का दोष,
न विधि ने की कुछ वस्तु अदोष
इन्दु-में कलुष पुष्प-में कीट
सदा करता माया, विधि-ढीठ,

किन्तु, मनु-में जो सु-गुण अनेक
छिपा उनसे लघु-दु-र्गुण एक,
जनक इनके जो अब स्वर्गस्थ
वीरसिंह थे अब इहलोकस्थ
देख तब सब-विध गुणी उदार,
स्व-सुत नल-को सौंपा निज-भार,
तभी-से सज सुजनोचित साज,
प्रजा-रञ्जन करते नलराज
अनुज वह उनका पुष्करदत्त,
देश-रक्षा कर रहा अमत्त,
देव-से जन दिव जैसा देश
और देवेन्द्र-तुल्य जनरेश
नारियाँ, पुरुषों के अनुरूप
सभी-में सद्गुण-भरे अनूप
ज्ञान-का उनमें पूर्ण प्रकाश
प्रमुख उनमें न सुहास विलास
यही - है, इसका - हेतु-महान्,
निषध है जो सुर-लोक समान
राष्ट्र-को वे सु-योग्य-सन्तान
सदा-करतीं निष्पाप प्रदान
कि जिनके-हैं देवोचित-कार्य
और वे-कहलाते हैं आर्य,

गगन-चुम्बी सुन्दर प्रासाद
दूर रहता जिनसे अवसाद,
स्वच्छ, धन-धान्य-युक्त, सुविशाल
उठाये-हैं, गौरव-से भाल,

समर में उनका वह कोदण्ड,
छोड़ता-है जब वाण प्रचण्ड
और, दृग-युग बरसाता-ज्वाल
दीखते तब वे काल-कराल
न टिकते रिपु फिर कहीं-समक्ष
भागकर-होते भीत अलक्ष
स्वयं को जन-मन रक्षक-मात्र
समझते हैं नल राज सु-पात्र
प्रजा हित-में ही आठों-याम—
बीतते-हैं, करते-शुभ काम
जहाँ-तक उनका अधिकृत देश
वहाँ-तक है सुख-वास विशेष
तुष्ट है, सभी-साधु-विद्वान
दुष्ट को दण्ड मान्य-को मान
धर्म-द्विज गो-सेवा सविशेष
मुदित-हो करते सदा-नरेश
दिनों-दिन बढ़ता है तप-धर्म
सीखते-हैं, जिस को शुभ-कर्म
नीति-में हैं भूपति निष्णात
समझते उन्हें, प्रजा-जन भ्रात
जहाँ गुण नृप में भरे अनेक ।
वहाँ अवगुण-भी उनमें एक—
छिपा-है कि वे खेलते द्यूत
हुए-पर इसस वे न अपूत
क्यों-कि इसमे न नृपति का दोष
न विधि ने की कुछ वस्तु अदोष,
इन्दु-में कलुष, पुष्प-में कीट
सदा करता आया, विधि-ढीठ

किन्तु, नृप-में जो सु-गुण अनेक,
छिपा उनसे मधु-दु-र्गुण एक,
जनक इनके जो अब स्वर्गस्थ
वीरसिंह थे अब इहलोकस्थ
देश तब सब-विध गुणी उदार,
स्व-सुत नल-को सौंपा निज-भार,
तभी-से सब सुजनोचित साज
प्रजा रञ्जन करते नलराज
प्रमुख वह, उनका पुष्करदत्त,
देश रक्षा कर-रहा प्रमत्त
देव-से जन दिव जैसा देश
और देवेन्द्र-तुल्य जनेश
नारियाँ पुरुषों के अनुरूप
सभी-में सद्गुण भरे अनूप
ज्ञान-का उनमें पूर्ण प्रकाश,
प्रमुख उनमें न सुहास विभास
यही है, इसका हेतु-महान्,
निषध है जो - सुर-लोक समान
राष्ट-को वे सु-योग्य-सन्तान
सदा-करतीं निष्पाप प्रदान,
कि जिनके-हैं देवोचित-काय
और वे-कहलाते हैं आर्य,

गगन-चुम्बी सुन्दर प्रासाद,
दूर-रहता जिनसे अवसाद,
स्वच्छ, धन-धान्य-युक्त, सुविशाल,
उठाये-हैं, गौरव-से भाल,

मधुर रस बरसाता मुख शान्त
जिसे लख सुख पाते जन क्लान्त
सु-शोभित पीताम्बर से गात
और 'महती' वीणा है हाथ
पादुका-ध्वनि करती आकृष्ट
जनों-की अपने अभिमुख दृष्टि
तजाये यों मुनियों का साज
हुए आगत नारद ऋषिराज
उन्हें पा सहसा उठे नरेश
हुआ हर्षित उनका हृद-देश
प्रणत नृप सानुज हुए प्रवीण
किये फिर ऋषि आसन-आसीन
सलिल-से प्रक्षालन-कर पाद
दिखाया निज आतिथ्य अगाध
विलोकित कर नृप-प्रेम अनन्त
दिया ऋषि-ने आशीष तुरन्त
और फिर कुशल प्रश्न-पश्चात्,
नृपति ने कहा-जोड़कर हाथ
"आज है पुण्योदय श्रीमान
पधारे, सेवक-गृह भगवान्
जिसे दर्शन-देते हैं आप
नष्ट-होते उसके सब-पाप,
कहाँ यह मेरा पुण्य महान्,
निरा हूँ मैं दुर्मति अज्ञान
पूर्वजों का यह पुण्योत्कर्ष,
हुए जो मुझे देव-के दर्श,
अहा-सचमुच कितना सौभाग्य,
स्वयं अभ्यागत हैं, गतराग,

देव ! अपवर्ग स्वर्ग या मोक्ष
यदपि ये भी हैं सभी-परोक्ष
किन्तु हैं सब जन-के आधीन
कर्म कर पाते इन्हें प्रवीण
देव ! पर यह न कर्म-से साध्य
कि-आवें घर बैठे आराध्य
आप-ऐसों की करुणा-मात्र—
कराती-प्राप्त आप-सा पात्र
स्वयं-हो कार्य स्वयं-हो-हेतु,
स्वयं हो सिन्धु, स्वयं हो सेतु,
कृपा की तो पाया शुभ-दर्श
दर्श-से होगा ध्रुव उत्कर्ष
सुहित होगा कुछ आज विचित्र
धन्य जीवन हो गया पवित्र

श्रोत्र-हैं मेरे व्यग्र-महान,
सुधा-वाणी-का हो शुचि-पान
अतः कुछ आज्ञा देकर नाथ !
करो ! सेवक को आज कृतार्थ
'हिमाकर जटिल स्व-दीप विशाल
सिताकर-कुसुम-रदों का जाल
और मन में भर, हर्ष अनन्त,
वचन बोले—अमृतोपम सन्त
कुमुदिनी-वल्लभ कलभ-अनूप
स्वयं शुभ योग्य सुकाय शुचि भूप !
तुम्हारा-प्राप्य स्वतः गुणें-चय
तुम्हारे लिए वत्स ! क्या स्वर्ग

तुम्हारा धन्य देश निषधेश !
हुआ जिससे निष्प्रभ सुर-वेश
तुम्हारे देख काम मनुजेन्द्र !
सशंकित रहते हैं देवेन्द्र
आपके सु-विचारों-से नाथ !
क्योंकि हैं अविदित-से सुरनाथ
लोक-रञ्जन कर विधिवत भूप !
रचा तुमने यश—धवलस्तूप
और, कर यज्ञ अनेक महान्
अपरिमित दे दीनों-को दान
योग्य ही तुमने किया उदार !
किन्तु, इन्द्रासन-पर अधिकार—
न तुम कर-बैठो यह सन्देह,
जलाता है सुरेन्द्र-की देह,
किन्तु करते तुम तो शुभ काम
छोड़कर, फल-वाञ्छा-अभिराम
तुम्हीं-से मिलने की ले चाह
इधर में आ-पहुँचा नरनाह !
यज्ञ-कर, विद्या-से हो युक्त
हुए देवर्षि ऋणों-से मुक्त
अभी-पर पितृ ऋण से उन्मुक्त—
न हो है वत्स ! गृहस्थ प्रमुक्त
यदपि मेदिनी भूप की दार,
कि जिससे होता भव-उद्धार,
किन्तु, अब पितृ ऋण का परिशोध—
करो है यह मेरा अनुरोध
दूसरे आश्रम-मध्य प्रवेश—
करो अब, इसी हेतु नरवेश !

प्रजा-सुख स्वर्ग शान्ति की मूल
प्राप्त-कर पत्नी निज अनुकूल
करो उत्पादित वर-सन्तान
कि जिससे-हो ऋण-का अवसान,
भीम-नृप-का विदर्भ-जो-देश,
आज सुख शान्ति वहाँ-सविशेष,
श्रेष्ठ हैं नृप भी साङ्गोपाङ्ग
उन्हीं की तनया परम सुभाङ्ग,
शिरोमणि सुन्दरियों की एक
रची वह विधि ने सहित विवेक
उसी-की सुन्दरता के गीत
स्वर्ग-में गाते देव पुनीत
छोड़ अप्सरा स्वर्ग अपवर्ग
उसी-पर आकर्षित सुर-वर्ग,
और हैं वे सब आज स-यत्न,
प्राप्त-हो हमें-कि वह भू-रत्न,
तीर्थ-अवगाहन कर उस-बार
गया ~ मैं भीम नृपति-के द्वार
रम्य कुण्डिनपुर उसका धाम
देख मन ने पाया विश्राम
नृपति ने दिया मुझे बहुमान,
तुम्हीं जैसे वे - भी गुणवान
और फिर कुशल प्रश्न कर, तात !
बतायी नम्र नृपति ने बात,
धन्य उनके कहने की रीति
हुई जिससे मुझको भी प्रीति,
'आज तीनों लोकों में नाथ !
आपसे वीणा हुई सनाथ,

तुम्हारा धन्य देश निषधेश !
हुआ जिससे निभ्रम सुर-देश
तुम्हारे देख काय मनुजेन्द्र !
सशङ्कित-रहते हैं देवेन्द्र
आपके सु-विचारों-से त्रास !
क्योंकि हैं अविदित-से सुरनाथ
लोक-रञ्जन कर विधिवत भूप !
रचा तुमने यश—धवलस्तूप
और, कर यज्ञ अनेक महान्,
अपरिमित दे दीनों-को दान
योग्य ही तुमने किया उदार !
किन्तु, इन्द्रासन-पर अधिकार—
न तुम कर-बैठो यह सन्देह,
जलाता-है सुरेन्द्र-की देह
किन्तु, करते तुम तो शुभ काम
छोड़कर, फल-वाञ्छा-अभिराम
तुम्हीं-से मिलने की ले-चाह
इधर मैं आ-पहुँचा नरनाह !
यज्ञ-कर विद्या-से हो युक्त
हुए देवर्षि ऋणों-स मुक्त
अभी-पर पितृ ऋण से उन्मुक्त—
न हो है वत्स ! गृहस्थ प्रमुक्त
यद्यपि मेदिनी भूप की दार,
कि जिससे होता भव-उद्धार,
किन्तु, अब पितृ ऋण का परिशोध—
करो है यह मेरा अनुरोध
दूसरे आश्रम-मध्य प्रवेश—
करो अब इसी हेतु नरेश !

प्रजा-सुख स्वर्ग शान्ति की मूल
प्राप्त-कर, पत्नी निज-अनुकूल
करो उत्पादित वर-सन्तान
कि जिससे-हो ऋण-का अवसान
भीम-नृप-का विदर्भ-जो-देश
आज सुख शान्ति वहाँ-सविशेष
श्रेष्ठ हैं नृप भी साङ्गोपाङ्ग
उन्हीं की तनया परम शुभाङ्ग
शिरोमणि सुन्दरियों की एक
रची वह विधि ने सहित विवेक
उसी-की सुन्दरता के गीत
स्वर्ग-में गाते देव पुनीत
छोड़ अप्सरा स्वर्ग अपवर्ग
उसी-पर आकर्षित सुर-वर्ग
और हैं वे सब आज स-यत्न
प्राप्त-हो हमें-कि वह भू-रत्न
तीर्थ-अवगाहन कर उस-बार
गया मैं भीम नृपति-के द्वार
रम्य कुण्डिनपुर उसका धाम
देख मन ने पाया विश्राम
नृपति ने दिया मुझे बहुमान
तुम्हीं जैसे वे - भी गुणवान
और फिर कुशल-प्रश्न कर, तात!
बतायी नम्र - नृपति ने बात
धन्य उनके कहने की रीति
हुई जिससे मुझको भी प्रीति
"आज तीनों लोकों में नाथ।
आपसे वीणा हुई सनाथ

विपञ्ची कुशल आप-सा आज
न कोई भी श्रुति-गत ऋषिराज !
अनेकों बार दृगों को मीच
सोचता था, मैं मानस बीच
हमारे हरने को सब पाप,
कदाचित् यहाँ पधारें आप
सुता को वीणा वादन ज्ञान—
प्राप्त करने को सुखद महान
आपकी सेवा में हे नाथ !
छोड़कर मैं हो सकूँ कृतार्थ
अतः मेरी यह विनय उदार !
कृपा करके कीजे स्वीकार,
योग्यता पूर्वक भाव असीम
प्रगट कर बैठ-गये चुप-भीम
नृपति ! यद्यपि हम बन्धन-हीन
किन्तु हैं प्रणतों के आधीन
देखकर उनका निश्छल भाव
किया स्वीकृत मैंने प्रस्ताव

बस ! मैंने देखे सब-लोक
सुरों-से दीनों-तक के ओक,
निहारे, बड़े अनिन्द्य-स्वरूप,
किन्तु, अगले दिन ही हे भूप !
भीमजा-का वह रूप-महान् —
देख मैं था कुछ क्षण गत-भान
और विस्मय विस्फारित चक्ष,
देखता सम्मुख-मूर्ति समक्ष,

आज तीनों लोकों में भूप !
न उस जैसी सुन्दरी अनूप
पूर्ण वह नारि गुणों की धाम
उचित उसका दमयन्ती नाम
वहाँ कुछ रहने-के पश्चात्—
जान पाया वह उसकी बात—
कि 'दम' ऋषि-का पाकर वरदान
पा सके उसको भीम महान्
सुता का ही था यह सौभाग्य
कि जागा भीम नृपति-का भाग्य
प्रथम कुछ थी न उन्हें सन्तान
किन्तु, अब हैं वे पुत्रोंवान
तीन सुत उनके घर में मोद—
बढ़ाते अब भर माँ की गोद
देख - यों गत अपने सन्ताप
और, दम ऋषि का पुण्य प्रताप,
स्व - श्रद्धा प्रगटानी थी इष्ट
और था ऋषि गुण-गान अभीष्ट
अत सब निजात्मजों के नाम—
धरे लक्षित कर 'दम' निष्काम
दमन दम दान्त सभी के बन्धु,
बहन के सम ही हैं गुण-सिन्धु
भीम भी हैं अब परम-प्रसन्न
(प्रथम रहते थे जो अवसन्न)
देखकर उसकी बुद्धि कुशाग्र
ग्रहण में तत्पर ज्ञान समग्र
स्व-शिष्या को पा यों सत्पात्र
हर्ष-से फूला, मेरा गात्र,

बताता उसे तनिक मै बात
भेद-वह अप्रिम करती ज्ञात
छिपाकर रख न सका कुछ शय
यही था उसका भी तो ध्येय
कि अन्य कलाओं की जिस भाँति
पराकाष्ठा उसने की प्राप्त
उसी विध वीणा गुण सर्वज्ञ—
बने वह रहे न किञ्चित अज्ञ
अस्य से मासो में हे भिज्ञ !
हुई वह वीणा वादन विज्ञ
आज बस मुझको जग-में छोड़
न उसकी और कहीं है होड़
देखकर पूर्ण विपञ्ची ज्ञान
बुलाये मैंने नृपति महान्
कहा-उनसे कि मुझे जो भार—
दिया उसको मैं रहा उतार
पूर्ण तनया की शिक्षा आज
परीक्षा ले लीजे नग राज !
बुलाई फिर मैं भैमी शुभ-नाम
स-वीणा आ पहुँची गुण धाम
महा उसका वह वादन ढंग
देख रह-गय नृपति भी दंग
शोभती वीणा उसके अङ्क,
कि हो जिस-भाँति स-एण-मयंक
शारदा आकर या उस गेह
बजाती हो वीणा-स-स्नेह
श्रवण-कर वीणा-की मृदु-तान
हुए चेतन जड़ से अनजान

वहाँ जन आ न सके हा-शोक।
लगी थी क्योंकि नृपति-की रोक
किन्तु, पक्षी आगम उस-काल
बाँधकर रख न सके नरपाल
हुई यों सहसा उनकी भीड़
वहीं थे मानों उनके नीड़
बढ़ा यह तभी कुतूहल और
हुआ नभ-में घन-गर्जन घोर
तनिक पहले था निर्मल-स्वच्छ,
वहाँ अब घिरे, घटा के गुच्छ
और फिर बढ़ा वायु का वेग
बरसने लगे वेग से मेघ
झरोखों-से झर-झर मृदु तान
निकलती थी बाहर घनघान
मनुज बरबस होकर एकत्र
खड़े सुनते थे मृदु वादित्र
न था उनको क्या का ज्ञान
दीखते चित्रोल्लिखित समान,
बदलते क्यों, स्वर, उसके - हाथ
प्रकृति - देवी भी त्यों ही साथ
हुआ वर्षा नभ में घन श्याम
स्व-क्रम से आते-थे, उस-काम,
देख-यह अद्भुत कार्य कलाप
धन्य समझी यह मैंने आप
परीक्षा फिर यह हुई समाप्त
तभी मणि मुक्ता के पर्याप्त
दक्षिणा का उनको - दे - रूप
लगे थे मुझको देने भूप

हृष्ट हो मैं बोला तत्काल
क्षमा कीजे सुनिए भूपाल
न धन से अर्थ मुझे नरनाह !
विरक्तों को धन की क्या चाह !
तितिक्षा में है भूप ! दुरन्त—
एषणाओं का होता अन्त
न आवश्यकता रहती शेष
करें फिर क्या-धन-का अनलेश !
चाहते हम तो केवल मुक्ति
कि जिसकी अनासक्ति है युक्ति
द्रव्य-से हो जाती आसक्ति
कहाँ फिर जप समाधि तप भक्ति
द्रव्य ही है बन्धन का मूल
साधुता के पथ-का खर शूल
आपको समझाना है व्यर्थ
न है शिक्षा शिक्षित के अर्थ
न मैं धन रख सकता हूँ पास
किन्तु, नृप ! करना तुम्हें हताश—
न है मुझको इस समय अभीष्ट
अत यह स्वीकृत भेंट वरिष्ठ
और यों-कह लेने के साथ
दिया वह धन भैमी के हाथ
मुदित-दीखे फिर भीम महान्,
न होते दुराग्रही - विद्वान
गई भैमी-भी अपनी ठौर—
सहित नृप-के मुझको कर जोड़
मुझे गमनोत्सुक देख तुरन्त
कहा नृप ने भर-प्रेम अनन्त,

समय अब सुता-स्वयंवर-काज—
विनिश्चित-सा ही है, मुनिराज!
उसी शुभ-वेला-में हे नाथ!
कृपा-कर कीजे हमें सनाथ!
उन्हें आने-का, दे विश्वास
चला मैं हर्षित पथ-आकाश
दृगों-में भमी मञ्जुल मूर्ति
और, श्रुति-में तानों-की पूर्ति
वही सब-कुछ, पहले का चित्र
मुझे घेरे-था परम विचित्र
उधर कर गगन - वायु का पान
छोड़ती थी महती मृदु तान
इधर अकृत मेरा हृद् देश
दिये था, उसका साथ विशेष
यही उठता था एक विचार
कौन है! ऐसा गुणी अपार
कि जो हो, मैत्री-के सम कक्ष
जिसे यह वर-ले, देख समक्ष
और बरबस ही मेरी दृष्टि,
आप पर होती थी आकृष्ट
बँधे, तुम ही, मुझ को हे शिष्ट!
उसी सम सुन्दर गुणी वरिष्ठ!
घूमकर तब से विविध प्रदेश
आज मैं आया, यहाँ वनेश!
यही कहने की रखकर चाह
कि, उससे करलें आप विवाह,
सखा, या सचिव नारि के काम
करे वह पूरे, बन कर वाम,

बाँध सकता मन्त्रों को कौन !
मठ रह गये विवश सब मौन ।
रोपा ऋषि ने प्रेम-बीज जो, नृप के मानस बीच
किया अंकुरित और पल्लवित वह स्मृति-जल ने सींच ।
रह रह सुमन स्वप्न वह देता ले मृदु मन्द हिलोर,
क्षण-क्षण बोझिल-सा नृप-का मन रहता गन्ध-विभोर ।

तृतीय सर्ग

चुने हुए रणधीर वीर संग लिये-हुए हैं
आखेटक-का वेश नियमपति किये-हुए हैं।
श्वेत-अश्व-पर चढ़े हाथ-में लिये-शरासन
किया नृपति ने मृगया-के हित वन-अवगाहन।
वाजि वेग के शब्द सेवकों की हुंकारें
होती थीं दिग्व्याप्त फणी जैसी फुंकारें।
कोलाहल-सा मचा भीत पशु पक्षी शंकित
जागृत वन को छोड़ भागकर हुए अलक्षित।
चौकन्ना मृग एक भगाया पीछे घोड़ा—
वायु - वेग श्वेताश्व हरिण - के पीछे - दौड़ा।
मृग था कभी समीप कभी आगे आता था
लक्ष्य भ्रष्ट हो तीर धनुष-पर रह जाता था।
भरता था चौकड़ी हरिण, झोंका सा जाता
पद-पद पर वह शक्ति प्राण - भय से था पाता।
गरुड़ सदृश था रहा तुरग भी मृग के पीछे,
शक्ति, कहीं - अज्ञात लिये - जाती ज्यों - खींचे।
स्वेदाप्लुत था गात, फेन मुख - से झरते थे
मानो पापाक्रान्त धरा-के व्रण भरते थे।
प्राणों की थी होड़ हुई दोनों की वन - में,
चले भूमि - पर स्वल्प अधिक वे उड़े गगन - में।
पीछे - ही रह गये नृपति - के सभी सिपाही,
कहीं प्राकृतिक झील, कहीं पथ - में थी खाई।
उलझ पड़े हों पाश विरहिणी - सिर - में जैसे,
झाड़ी - उलझीं मिलीं नृपति - को पथ - में वैसे।

मृग हो गया अभय भूप मन में मुस्काये
मारा जाता नहीं काम जिसके-सिर आये।
धीरे धीरे अभय बसा अब उनका वन-में,
छटा प्राकृतिक देख महीप मुदित थे मन में।
यह लख मृग आसीन सिद्धि साधें क्यों साधक,
इनके सुख-में भला बना हूँ क्यों मैं बाधक।
मनुज स्वार्थ का भरा हुआ पुतला है जग में
काम-क्रोध मद लोभ मोह उसकी रग रग में।
क्षणिक स्वार्थ के लिए दूसरों के जीवन को—
नष्ट करे धिक्कार! अधम इस मानवपन को।
इसीलिए ये दूर! मनुज से दूर! विपिन में
जीवन कर व्यतीत मुदित हो अपने मन में।
किन्तु, वन ये नहीं यहाँ पर भी पाते हैं,
रसलोलुप नर हन्त! यहाँ भी आ जाते हैं।
निरपराध ये तभी अनेकों मारे जाते
दूर नरों-से रहें न फिर भी तो रह-पाते।
जन द्वारा वन कहीं सताये हैं यदि जाते
तो, न्यायार्थ समीप तभी वे मेरे आते।
इनका किन्तु न कहीं न्यायकर्ता है कोई
क्षणिक स्वार्थ के लिए नरों में नरता खोई।
नरता से देवत्व प्राप्त कर सकता मानव,
किन्तु, कहाँ देवत्व! पतित हो बनता दानव।
मनुष्यता से हीन मनुज क्यों दनुज रहेगा
निज दनुजत्व विनाश, दनुज क्या कभी सहेगा।
जब-कि दैत्य बन दैत्य रहें तो भले न क्या वे,
पर, मानवता हीन न जाने मानव क्या ये।
जीव मात्र का बनकर हितु, जग-में नर आता,
इसीलिए सविशेष, प्रकृति से साधन पाता

अगर न हित कर सकें अहित तब क्यों करते हैं
इनके द्वारा निरपराध कुल क्यों मरते हैं।
इधर लक्ष्य की सिद्धि उधर है जीवन जाता
फिर भी देखो दया दव मानव कहलाता।
लक्ष्य - सिद्धि के लिए अन्य साधन हो-सकते
और क्षुधा भी मनुज अन्न-द्वारा खो सकते।
उपकारी मानव ही मानव हो सकता है
वही धरा पर जीव - दुखों को खो सकता है।
उसको ही कर प्राप्त वसु सु-सुस्थित होता है,
वही मनुज बस अन्य-दुखों में जो रोता है।
शस्त्र धनुप असि आदि आततायी के हित है
दण्ड व्यवस्था सभी दुष्ट के अर्थ विहित है।
नहीं आज से निरपराध को मैं मारूँगा
अकिम्पनों को सता न मानवता हारूँगा।
वैरसेमि के जगे भाव ऐसे सब मन - में
मसते चले विहार पक्षिया का ये बन में।
वातावरण - प्रभाव हृदय पर पड़ जाता है
अत सिद्धि के लिए मनुज वन - में आता है।
हुए प्रभावित भूप, इसी - से यह व्रत ठाना,
पक्षी उड़ते कहीं, कहीं पर चुगते नाना।
जिसे - देख कुछ पूर्व सभी पशु - पक्षी भागे
घूम रहे अपभीत सभी - वे अब नृप आगे।
मोहक रुप निहार, जीव तब आगे बढ़ते
मन - भावों - की छाप बदन पर मानो पढ़ते।
पशु - पक्षी कवि - तुल्य मनो विज्ञानी - होते
देख सुखी को सुखी दुखी को पानी - होते।
आया मन्द - समीर गन्ध - शीतलता - लेकर
हुए विटप कृतकृत्य नृपति - को छाया देकर।

सग मण्डल कर रहा, तदस्थित गीतोच्चारण
मानों आकर यहाँ नृपति यश गाते चारण।
देख न कुछ अवरोध बेलि पथ फूल रहीं थीं
श्रेष्ठ भूप-की प्रजा-तुल्य दुख भूल रही थीं।
प्रियतम नीरधि से मिलने इठला इठला कर
मरीं सरित आ रहीं गीत मस्ती से गाकर।
उनका यह अविराम गमन मानों यह कहता,
जहाँ मिलें प्रिय वहाँ दुखों में भी सुख रहता।
झरनों का जल तीव्र वेग से रमक रहा है
सूर्य रश्मि पड़ रहीं रजत-सा चमक रहा है।
धुन्ध धुआं था स्वेद अश्व बढ़ता जाता था
प्रति क्षण दृश्य नवीन मनोरम दिखलाता था
थीं मृगियां कर रहीं कहीं शिशुओं से क्रीड़ा
मृग बैठे चुप चाप मान बच्चों से व्रीड़ा।
अब नृप को अवलोक उठे वे किन्तु न भागे
जाती थी सौन्दर्य मूर्त्ति वह उनके आगे।
जी-भर भर नृप-रूप-सुधा को थे वे पीते
बड़े-दिनों के हुए आज सचमुच मनचीते।
कुहू-कुहू गा उठी कोकिला पंचम स्वर-से
देती हो सन्देश मनोभव का ज्यों तर-से।
पुष्प-कुंज थे मधु, नृत्य केकी करते थे
पीउ-पीउ कह तान जहाँ चातक भरते थे।
अटवी थी यह बनी प्रकट तौर्यत्रिक-शाला,
जगें देखकर जिसे विरह की सोती ज्वाला।
छाया देकर विटप नृपति का श्रम हरते थे
लता-गुल्म-कर सुमन-वृष्टि पथ को भरते थे।
छोड़ रहा स्मर प्रखर-बाण मानों तम - तमकर,
और, सु-सज्जित सैन्य साथ में हो बन-ठन-कर।

बना रहा था लक्ष्य नृपति को वह छल - बल-से,
दिखा रहा था युद्ध - कला अपनी कौशल - से।
आलस-हुए-महीप, याद भैमी-की आई
सहसा दृग मुँद गये हृदय ने पीड़ा पाई।
जिसकी विस्मृति-हेतु चले मृगया छल-करके
मानो था एकान्त नहीं आई बस भर के।
लगा-शून्य-सा स्वयं उन्हें अपना वह-जीवन
हो सकता जो सरस सुखद पाकर भैमी-धन।
निकली मुख से आह। हुआ फिर दृग उद्घाटन
दीख-पड़ा अब उन्हें और वह सुन्दरतम वन।
बीच उसी के बना रम्य-प्राकृत आयत सर,
सघन-विपिन-में आ-छाया ज्यों मान सरोवर।
अमल-कमल-खिल रहे सकल सैवालाच्छादित
करते थे कल-केलि सरस जलचर आह्लादित।
पड़ी नृपति-की दृष्टि तभी उस सर-के तट-पर,
थे विहार में मग्न मुदित-मन हंस जहाँ पर।
बड़ी - बड़ी थे श्वेत पुष्प-की-सी मालायें
अपने प्रिय को घेर रहीं हंसी - बालायें।
होता था अभिसार, प्यार से भरी हुई थीं
मानो जल-क्रीड़ार्थ, अवतरित परी हुई थीं।
करते थे कुछ, अलग, दम्पती कौतुक नाना
थे सब क्रीड़ा-मग्न न देखा नृप का आना।
सर से घोड़ा तुरग पिया - नृपति ने पानी
और, देखने लगे मरालों की मनमानी।
एक हंस उस-ओर सभी-से छिन्न पड़ा था
कल्प-वेलि-का सुमन लता-से छिन्न पड़ा था।
मुख-श्रान्त, तन क्लान्त आँख उसने थी मीची
सञ्चय-सी कर रहा शक्ति, जो अभी उलीची।

श्रेष्ठ स्वर्ण के पक्ष देह-पर दमक रहे थे
रवि-आतप-से उप्त और भी चमक-रहे थे।
देख स्वर्ण के पंख हुआ नृप-को विस्मय-सा
और, दृष्टि के साथ उठे उनके पद सहसा।
हुई वृहेच्छा उसे त्वरित कर-गत करने की
और निकट से देख स्व विस्मय-को हरने की
चल भूप उस ओर युक्ष्म आकार बनाकर
उसे पकड़ भू लिया-निकट धीरे-स जाकर।
अप्रत्याशित विपद । चौक-खग ने दृग-खोले
वह नृप-का कर-परस लगा असते से डोले।
फड़-फड़ करते पंख हृदय-धड़-धड़ करता था
मुक्ति-यत्न कर रहा भीत निज बल-भरता था।
किन्तु, हुआ सब व्यर्थ छुटा वह सका न निज-को
भूप चकित थे देख यत्न करते उस-द्विज को।
लगा काटने कभी विहग तब नृप-के कर में
और चीखता कभी व्यथित वह ऊँचे-स्वर-में।
खग दशन-अवरोध किया नृप-ने मुख भर-के
और रखने लगे हस्त-पञ्जर-गत करके।
छुट न सकूंगा हाय ! हंस ने जब यह-जाना
तब वह करने लगा-विकल-हो क्रन्दन-नाना।
चौंके-पक्षी सभी करुण क्रन्दन को सुनकर,
कोलाहल कर आस उड़े पत्तों-को धुनकर।
जिस शासन में दीन, हीन, यों दुख पाते-हों
निरपराध लघु जीव व्यर्थ मारे जाते हों।
वह दुनृप-की धरा न रहने योग्य हमारे,
मानों कह इस भाँति सभी वे गगन-सिधारे।
उनका जाते देख गगन-में उड़ कर सहसा
कनक हंस हो गया हाय ! जीवित भी मृत-सा।

बलहीनों की एक सहायक है बस वाणी,
जिह्वा-द्वारा क्षोभ शान्त करता कृश प्राणी।
अब है ध्रुव अवसान! पड़ा मैं किस आशा-में
अभय हंस ने कहा स्पष्ट मानव-भाषा-में।
धिग् धिग् रे सौ बार मनुज! यह नरता तेरी
होते हैं नर दैत्य दया से शून्य अहेरी।
बलवत्ता कुछ नहीं मारने में दीनों के
होता है क्या नाम हराने में क्षीनों के।
बनते ही यदि शूर अरे! तो वापस जाओ
हैं पद-पद पर मुकुट क्षोभ उनको दिखलाओ।
हिंसा रस की पूर्ति प्रगत-में क्यों-करते-हो
मैं हूं लघु-सा जीव मुझे तुम क्यों-धरते-हो।
कौन! मिलेगा सुयश तुम्हें वध करके मेरा
व्यर्थ श्रान्त हो काल प्राण यह हरके मेरा।
मुझे मार कर स्वयं अमर क्या रह जाओगे
करके इतना पाप भला क्या-फल पाओगे।
हाय! न अपने मरे-मुझे कुछ भी दुख होता
विलख-विलख कर इस प्रकार मैं कभी न रोता।
हा! मेरे हत हुए बुभुक्षित परिजन मेरा
तड़प-तड़प-कर स्वयं मृत्यु-का होगा घेरा।
हैं सोने के पंख मानता हूं मैं यह भी
पर इनका क्या-मूल्य जानता हूं मैं यह भी।
दो, दिन भी तो नहीं कार्य तुम चला-सकोगे
धुक स्वर्ण-की भांति न इनको गला-सकोगे।
जिस सुन्दरता-पर मैं अति-ही था हरसाया
उसने ही अब मुझे काल-का ग्रास दिखाया।
शक्ति हीन को व्यर्थ ईश सुन्दरता देता
देता है तब क्यों न, तरी वह उनकी खेता।

अबलों का सौन्दर्य लाभ हैं सबल उठाते
बेचारे निरुपाय व्यर्थ वे मारे जाते ।
अम्ब ! अम्ब ! अवलम्ब बुढ़ापे का यह तेरा
पाकर, अवश अनाथ आज अन्तक ने घेरा ।
मुझे न पाकर रोवेगी माँ तू, रह रहकर
अम्ब ! पुकारेगा अब तुम्हें कौन माँ कहकर ।
आज पहुँच कर लेंगे जब ये विहग बसेरा
पूछेगी मम प्रिया कहाँ है प्रियतम मेरा ।
'वह तो मारा गया' दुखद उत्तर यह सुनकर,
मर जायेगी स्वयं प्रिया रो रो सिर-धुनकर ।
माता पिता-विहीन हाय ! मधु-मधु-शिशु मेरे
हो जायेंगे स्वयं बुभुक्षित यम-के चेरे ।
खुली न अब तक आँख न वे कुछ खाना जाने
हैं हाँ निरे अबोध न आना जाना जाने ।
ओह ! एक के मरे, सभी वे मर जायेंगे
हुए व्यर्थ उत्पन्न न कुछ भी कर-पायेंगे ।
रोदन करने लगा विहग यम-भय का मारा
फूट दृगों से बही कपोलों पर जल-धारा ।
चीख चीख निस्सत्व हुआ वह कर पञ्जर में
दीन-रुदन सुन इधर दया उपजी नृप-उर में ।
करुणा-नद बह चला नृपति भी साथ बहे थे,
आँखें जल-से भरीं, हृदय को हाथ गहे थे ।
टप, टप, पड़ने लगे अश्रु, खग-पर झर झर-कर,
हुए सिद्ध से, जल-समान ही वे मूर्च्छा-हर ।
हुए प्रथम अति चकित नृपति सुनकर नर-वाणी,
विस्मयता से भरी धरा सब मन में मानी ।
बोले फिर मृदु वचन हंस ! तुम क्यों डरते हो
होगा कुछ भी अहित न, रो, रो क्यों-मरते हो ।

मैं हूँ नृप नलराज निषध-जनपद का स्वामी
दीन-दुखी का मित्र न हूँ दुष्पथ-का गामी।
दर्शनार्थ ही किया धर ! तुमको धृत मैंने
सब परिजन से किया न तुमको अपहृत मैंने।
है न मुझे कुछ चाह स्वर्ण तेरा पाने की
और न इच्छा तुझे मारकर ही खाने की।
देख तुम्हारे पंख स्वर्ण के कुछ विस्मय-था
पीड़ित तुमको करूँ न यह मेरा आशय था।
उड़ जा विहग यथेच्छ ! छोड़ता हूँ मैं तुमको
जिह्वा लोलुप समझ अहेरी मत तू मुझको।
राजहंस को भला कष्ट क्यों पहुँचाऊँगा
मुझे भोज्य की कमी न क्यों ! तुमको खाऊँगा।
यों-कह नृप ने तभी हंस कर-मुक्त किया वह,
फैलाकर निज हाथ गगन में उड़ा दिया वह।
सुधा वचन से सिक्त छुटा-वह पक्षी सहसा
देख स्वयं को मुक्त पुनर्जीवित-सा रहँसा।
भर कर एक उड़ान कूज कुछ नभ-में जाकर,
नृपति-स्कन्ध पर बैठ-गया वह फिर से आकर।
सज्जन-पर विश्वास शीघ्र ही हो जाता है
अहिताशंका नाश शीघ्र ही हो जाता है।
करके ग्रीवा वक्र विहग बोला-मृदु-वाणी
करते महा-निवास धरा पर तुमसे प्राणी।
लेकर भार अनन्त इसी से ठहर-रही है,
दीन दयालु-विहीन न सचमुच पुण्य-मही है।
मैं, ऋषियों के पास आश्रमों-में रहता था
सुनता ऋषि उपदेश, स्व-मन की भी कहता था।
प्राय ऋषि मुनि सभी दयालु प्रकृति के होते
बिना भावना स्वयं दुखी-जन के दुख धोते।

किन्नर, नर सभी यहाँ पर आया करते
न राग वैराग्य सभी के झरने झरते।
रस्वती ने स्वयं दया कर मुझे पढ़ाया
सृति का अधिकांश ध्यान से ज्ञान सिखाया।
पा - ऋषि आदेश विप्र हो बसा यहाँ से
आश्रम ऋषि का बहुत दूर है भूप! यहाँ से।
वन में बना गृहस्थ सुखद मेरा परिजन है
शिशु क्रीड़ा में ललित मोद हमी सा धन है।
सोने के हैं पंख इसी से दूर वनों में
रहता हूँ निर्बाध उधर तरु-गुल्म-घना में।
पाकर क्षुधा निरीह हरिण उसका खाते हैं
जल मीनों का सबल मीन भी खा जाते हैं।
यों, निबल को सबल सदा खाया करते हैं
इसीलिए व सहज दण्ड पाया करते हैं।
विहित नहीं है पाप मारने में या इनके
आखेटक के लिए सभी ये हैं ज्यों तिनके।
मुझे मारकर भी न नृपति तुम ये अन्याई
फिर भी जीवित छोड़ अपार दया दिखलाई।
किया प्राण का दान आपका उपकृत हूँ मैं
क्या सेवा कर सकूँ अधम साधन हत हूँ मैं।
पर, यदि कुछ कर सका प्राण देकर भी अपने
तो हूँगा कृतकृत्य सुखद होंगे कुछ सपने।
आज्ञा दो कुछ मुझे शीघ्र मेरे उपकारी
कुछ तो लघु कर सकूँ भार यह जन आभारी।
सुधा वचन सुन कृतज्ञता से प्लावित खग के
उमड़ी गद - गद हुए हृदय में दया सुभग के।
और, विहग से कहा मित्र! अपराधी हूँ मैं
है लज्जा का विषय तुम्हें क्या आज्ञा दूँ मैं।

भद्र ! व्यर्थ ही पकड़ सताया तुमको मैंने
सोते थे सुख नींद जगाया तुमको मैंने।
इस पर भी इस भाँति प्रसन्न है दिखलाई
वास्तव में तुम राजहंस हो सच्चे भाई।
नर वाणी से युक्त मित्र ! या तुमको पाकर
समझा मैंने तुम्हें दिव्य ही हंस गुणाकर।
पाकर भी यों कष्ट किया आभार प्रदर्शित
देख तुम्हारे भाव हुआ मेरा मन-हर्षित।
तुम्हें न वधकर, दया दिखाई कैसे मैंने
था जैसा था दिया उसे वैसा ही रहने।
उचित कहाँ था मुझे तुम्हारा जीवन हरना
राजा का तो कार्य प्रजा की रक्षा करना।
श्रेष्ठ-राज्य में दीन हीन कब दुख पाते हैं
निरपराध जन कहाँ सताये कब जाते हैं।
मैंने तो कर्त्तव्य किया जो मुझे उचित है
और इसे कह रहे सखे ! तुम कि 'यह सुहित है।
यह न प्राण का दान भद्र ! यह मानवता है
हिंसा - स परिपूर्ण भाव भी दानवता है।
फिर भी यदि तुम आज चाहते हो कुछ करना
तो यह आग्रह, मुझे उचित ही है सिर-धरना।
'क्षमा करो ! तुम मुझे यही आशा है मेरी
माँग रहा है क्या दया से शून्य अहेरी।

हे नृप ! है क्या मूल्य भला मेरे प्राणों का
क्रीड़ा साधन मात्र तनिक यह बलवानों - का।
फिर जिसने जो प्राप्त किया वह उसका ही है
जीवित-मुझको छोड़ दया प्रभु ! तुमने की है।

पहले यह लघु-जीव आपका काम करे कुछ,
तभी धन्य बन उपकारी का कष्ट हरे कुछ।
क्या-कर-सकता काम अकिञ्चन प्राणी है यह
किस्मक व्यर्थ ही सौम्य ! आपने मानी है यह।
मैं वाणी के कार्य सभी कुछ कर-सकता हूँ
सन्देशा तो श्रेष्ठ नरों से हर सकता हूँ।
जहाँ न नर जा सके वहाँ भी जा सकता हूँ
कल्प वृक्ष के कुसुम कहो तो ला सकता हूँ।
हाँ यदि कोई इष्ट तुष्ट-कर दूँ मैं उनको—
आकर हे नृप ! अभी तुम्हारे गाकर-गुण-को।
जला रहा यदि विरह किसी का तुमको मन-में
मधुर मिलन में उस बदल दूँ तो मैं क्षण में।
पूर्व राग उत्पन्न-कराने में दीक्षित हूँ
अधिक-कहूँ-क्या-स्वयं भारती से शिक्षित हूँ।
कोई भी हो कहीं करूँ यों मुग्धा-पल में
मन में हो अनुरक्त अन्यथा जले अनल में।
नर-किन्नर गन्धर्व सुरों-के भी घर आकर
करूँ दूत का कार्य नायिका का मैं पाकर।
यद्यपि आप समर्थ सभी कुछ कर सकते हैं,
पर क्या निज सन्देश स्वयं ही हर सकते हैं।
हुए चकित अति भूप हंस की सुन मृदु वाणी
मन में सोचा है कृतज्ञ कितना यह प्राणी।
सुन उसका पाण्डित्य क्षणिक वे रहे ठगे-से
करके मुख से आह ! किन्तु वे तुरत जगे-से।
हुआ भीमजा-स्मरण हंस की सुन मधु बातें
नृप को सहसा हुई असह्य विरह की घातें।
पा अवसर अनुकूल सफल सखी यों बोले—
हो तुम मेरे मित्र, प्राण से पक्षी भोले।

यदि कर सकती काम सखे ! तो इतना करदो
मैं हूं मन्मथ तप्त ताप यह मेरा हर दो।
ग्राम भूमि-को सखे ! आज स्वर्गत्व मिला है
कल्प-वृक्ष का कुसुम यहीं पर आज खिला है।
है वह प्रान्त विदर्भ भीम हैं वहां नृपतिवर,
कुण्डिनपुर है रम्य राजधानी अति सुन्दर।
रूपवती है सुता उन्हीं नृप की दमयन्ती
नारद ऋषि ने कहा कि वह है अति गुणवन्ती।
सखे ! उठाकर कष्ट वहीं तुम सत्वर जाओ
करके उससे प्रश्न यही उत्तर ले आओ।
भाग्यशील वह कौन ! वरेगी वह खुद जिसको
क्या गुण देख पसन्द करेगी वह खुद किसको।
कौन बनेगा देव ! उस पृथ्वी पर आकर,
है पुण्यात्मा कौन ! श्रेष्ठ नर-वंश दिवाकर।
कह देना तुम एक अकिञ्चन नल अज्ञानी
चाह रहा है तुम्हें बनाना अपनी रानी।
कर, कर, तुमको याद दुखी रोता रहता है
वृश्चिक-दंशन तुल्य हृदय में दुख सहता है।
कर यह मधुरालाप लौट सत्वर तुम आना
उसका उत्तर सखे ! मुझे आकर बतलाना।
है उत्तर अवलम्ब वही मेरे जीवन का
मैंनी ही आधार, मित्र ! है नल के तन का।
उसे न पा आधार हीन यह बह जायेगा
डूब मरेगा कहीं पार कैसे पायेगा।
उसके निकट खगेश ! युक्तियों से तुम जाना,
कठिन न कुछ भी मित्र ! खोज विधुत की पाना।
जब वह वीणा लिये बजाती हो उपवन-में,
मग्न रही हो मोद गीत गा गाकर मन में।

पक्षी आकर वहाँ वेग से भरते होंगे
श्रवण सुधा का पान मुदित मन करते होंगे।
निकट पहुँचना विहग ! तभी तुम धीरे बस कर
होता नहीं निराश मुदित से कोई मिलकर।
और पहुँच कर तभी उसे सन्देशा देना
ओ नाविक ! नम तरी कुशलता से तुम खेना।
हूँगा उपकृत स्वयं न तुमको भुला सकूँगा
माँगोगे यदि प्राण मुदित हो वह भी दूँगा।

'ठीक ठीक हे देव ! आपकी है यह वाणी
सचमुच भैमी योग्य तुम्हारे होगी रानी।
है वह अति कमनीय श्रेष्ठ सुन्दरियों में भी
उसका ऊँचा स्थान आज सुर परियों में भी।
एक दिवस मै गया उसीके क्रीड़ा-सर, पर,
देखी मञ्जुल मूर्ति तभी वह आँखें भर, भर।
है दमयन्ती वही जानता हूँ मै उसको
विश्व सुन्दरी श्रेष्ठ मानता हूँ मैं उसको।
दूँ सन्देशा उसे बात ही यह है कितनी
सोचा होगा शक्ति विहग में है ही इतनी।
जाता हूँ मैं वहाँ अकेले उसको पाकर,
कर दूँ तुम पर मुग्ध तुम्हारा यश गा गाकर।
कहूँ उसे अनुरक्त कि तुम बिन रह न सके वह,
क्षण-भर भूप ! वियोग, तुम्हारा सह न सके वह।
जिस दिन भी वह स्वयंवरा होगी नृप बाला
तो ध्रुव ! शोभित करे तुम्हें देकर वर माला।
बस अब आठों याम तुम्हारा स्मरण करेगी
तुम्हें छोड़ कर नहीं और का वरण करेगी।

उठा न देखे भाँख बड़े भूपति को भी वह,
ठुकरा देगी निकट खड़े सुरपति को भी वह।
समझो निश्चय भूप ! कि दमयन्ती अभिरामा,
होकर ही मन रहे, भाय नृप नल की वामा।
बिना प्रतीक्षा किय, विहग नृप के उत्तर - की,
नभ में गाता उड़ा ताल दे देकर पर की।
यह है मधु सा जीव काम है दुष्कर भारी,
कर सकता या नहीं सोचते धर्माचारी।
पर, है यह अति चतुर सुधा-सी इसकी वाणी,
कौन न होगा मुग्ध ! जिसे सुन सहृदय प्राणी।
सोच रहे थे भूप तभी सहचर - गण आया
उस रजनी विश्राम वहीं पर सबने पाया।
जाता था उस ओर, उड़ा पक्षी अम्बर - में,
वायु वेग था भरा आज उसके युग पर में।
नीचे धसता कभी कभी ऊँचे चढ़ता था,
घन में कभी अदृश्य कभी बाहर कढ़ता था।
जाता था वह चला हेम तारा टूटा सा
मणि आभूषण किसी किन्नरी का छूटा सा।
दमक रहा दामिनी तुल्य वह काले घन में,
खिंची निकष पर स्वर्ण-रेख - सी नील गगन में।
देखी अटवी कहीं नदी नद झरना झाली
मिली कहीं गिरि भूमि सुखद भारे हरियाली।
आया देश विदर्भ सस्य श्यामलता धारे,
कुण्डिनपुर बस रहा नमदा नदी किनारे।
दूनी शोभा - रही सरित - से कुण्डिनपुर की।
आती जिसको देख विवश थी स्मृति सुरपुर की,
भरा पूर्ण तारुण्य मानिनी सी मदमाती
अंक समेटे - सलिल सरित मर-मर थी जाती।

छू छूकर ही युगल तटों को जल बह जाता
पकड़ सका कब छोर ! निकट से छू रह जाता।
मानों नृप यश धवल हुआ छल छल बहता था
द्रव होकर भी सुयश-गीत कल-कल कहता-सा।
था बालुका प्रसार, सुखद उसके तीरों पर
करते हंस विहार सुखद उसके तीरों पर।
देखे, पथ सब ओर पुरी से बाहर जाते
उदयोन्मुख रवि रश्मि जाल की याद दिलाते।
आते जाते हुए जनों से भरे हुए थे
मानों सारा भार पुरी का धरे हुए थे।
चहल पहल सब ओर सभी जन कार्य निमज्जित
वसन प्रगटा रही पुरी परिपूर्ण सु-सज्जित।
कोलाहल यह ठौर न जब भू पर पाता था
तब वह मानों विवश गगन में चढ़ जाता था।
भव्य दिव्य थे भवन परम सुषमा के सागर,
स्वर्ण पताका फहर रही थी लहर लहर कर।
नई वधू-सी सजी-धजी नगरी थी सारी
इन्द्रपुरी हो रही स्वयं उस पर बलिहारी।
पीन पयोधर ढके वस्त्र से निकल रहे थे
खिले चन्द्रमुख वास श्याम से झलक रहे थे।
था अपना ही भार न उसको भी सह पातीं
रूप गर्विता नरी सरी सी तिरछी आतीं।
वे सब सज धज भव्य विभव प्रकटित करती थीं
बरबस दर्शक दृष्टि समाकर्षित करती थीं।
अर्चित होकर कहीं घरों में पुष्पों द्वारा,
धेनु - पुगासी व्यस्त कहीं कुछ चरती चारा।
होता घण्टा - नाद कहीं पर देव घरों में,
गाते हैं द्विज वेद कहीं पर सधे - स्वरों में।

श्वेत चमकता हुआ पताका-को फहराता
वह सबसे सुविशाल नृपति-की कीर्ति जताता।
हुमगत खग-को हुआ भीम का भवन मनोहर
उपवन-में था बना जहाँ-पर भव्य सरोवर।
देख उसे तब हुआ मुदित खग अति-ही मन-में
मधु तुल्य वह उतर पड़ा नृप-के उपवन में।
आती थीं झंकार, गान-की राज-सदन से
जिनको, सुनकर रसिक मनुज हों व्यथित-मदन-से।
कुछ क्षण कर विश्राम हंस ने विस्तृत-उपवन—
देखा छवि-से पूर्ण हुआ अति आह्लादित मन।
सहसा चिन्ता जगी सोचकर कार्य-महत्ता
कहाँ नृपति का कार्य कहाँ मेरी लघु सत्ता।
कर्म-वीरों के लिए, किन्तु सम जीना मरना
सरल और क्या-कठिन कार्य करना सो करना।
देख स्व-कार्य अपूर्ण, सुजन चिन्तित रहते हैं
बस सिंह-सम तान दुखों-को वे सहते हैं।
कम वीर तो कर्म पूर्ण कर ही हटते हैं,
देव 'भाग्य' का मन्त्र पतित-कायर रटते हैं।'

गगन-से रवि-को जाता देख
हुए सहसा सब कमल स-शोक।
निशा-का कर केवल अनुमान
विरह-स्मृति से कम्पित थे कोक।

वह विहग प्रभात-प्रतीक्षा-में,
हो मग्न, स्व-भाग्य-परीक्षा-में।
रजनी-का आना देख रहा
तरु-की शाखा-पर बैठ वहाँ।

चतुर्थ सर्ग

अब-पड़ी रात नभ-बदन हुआ पीला-सा
पृथ्वी-मण्डल-पट-हरित हुआ गीला-सा।
वह सुरभिसारिका गई चिन्ह ये छोड़े
हस प्रम से तारे उसे पकड़ने दौड़े।
मूर्च्छित-सा विधु हो-गया न वह सह पाया
आ-पहुँचा मन्द-समीर, देख मुस्काया।
वह व्यजन डुलाने लगा गन्ध-से सींचा
हो विवश तिमिर ने हाथ धरा से खींचा।
उदयाचल-पर रवि चढ़े दृष्टि दौड़ाई
तब गीली आँखें उन्हें धरा-की पाईं।
मुख-पोंछ-दिया कर-बढ़ा धरा-मुस्काई
खोयी-सी अपनी शक्ति शीघ्र ही पाई।
गाते-पक्षी जन-काम-मग्न सब दीखे
आलस्य कहाँ ! वे स्फूर्ति-भरे अब दीखे।
खिल-रहे फूल सब हास-गन्ध बिखराते
उनके ऊपर हैं मुदित मधुप मँडराते।
छा रही छटा सब ओर राज-उपवन-में
मदमाता सा लग रहा भरा-यौवन-में।
वह सखी समावृत इधर भीमजा आई,
उपवन की शोभा देख उसे शरमाई।
भैमी-विधु-मुख खिल रहा छटा छुटती थी
घिर घिर केशों की चपल घटा घुटती थी।
कर-कमल वायु-सा उसे हटा देता था,
तब मुख दामिनी-समान-छटा देता था।

तन पर सुन्दर परिधान सुशोभित होते
मँडराते मुख-पर भ्रमर सुशोभित होते।
क्षण-क्षण तन क्षन कर रहे, मञ्जु कर हिलता
उसका आगम-आभास स्वयं यों मिलता।
गौरव से भरती धरा पाँव जब पड़ते
भू-को दे अपनी छाप अगाड़ी बढ़ते।
वह इधर उधर अवलोक चली जाती थी
यह हेमलता-सी लहर, भली-जाती थी।
वह देवलोक - की कान्ति, गमकती फिरती
उपवन-वन में, दामिनी दमकती-घिरती।
मैत्री-की थी यह नित्य भ्रमण-की बेला
करती वह विधु-सी वहाँ पवित्र-उजेला।

'हे सखी! तनिक यह लता-कुञ्ज तो देखो
पत्रों-से आवृत कुसुम-पुञ्ज तो देखो।
उभरे थे स्तन तारुण्य लता पर छाया,
उसने यद्यपि यह अङ्ग सयत्न छिपाया।
पर, छिपा-सकी वह कहाँ फूट-सा पड़ता
पाकर यौवन मकरन्द आप-ही झरता।
तुम भी आँचल-में छिपा रहीं कुछ दीखा
क्या-तुमने यह आवरण लता-से सीखा।
तुम कुशल रहीं जो छिपा सकी हो पूरा
रह गया लता-आवरण परन्तु अधूरा।
मुस्करा पड़ी तुम! देखो लता खिली यह,
इससे मधुपों-की भीड़, समोद मिली यह।
मुँहजले मधुप मकरन्द-पान करते हैं,
अब रहे लता-सौन्दर्य गान करते हैं।

जब हो प्रदोष मकरन्द पुष्प-मुरझायें
फटी आँखों तब लता न इनको भायें।
यह है पौरुष-का ह्रास विश्व-में आली
बह रही यहीं वह शुष्क सुमन-की डाली।
केशिनी हुई चुप भेज उधर प्रेरित-कर,
अमिताभा छिटकी इधर भीमजा-मुख पर।

'केशिनी न है यह बात तुम्हें क्या सूझ,
पौरुष-का कुछ महत्त्व न समझ-बूझ।
रजनी भर मुदता कभी अली फूलों में
विष-खाता कभी निरीह अली शूलों-में।
अपने प्राणों पर खेल लता को पाता
करता है इसको मुग्ध गीत-मधु गाता।
पाकर अलि का सर्वस्व स्वरस ये देतीं
वह क्या-देना ! जो मात्र परस ये देतीं।
देखो अलि का महत्त्व लता-को छूना—
कर देना उसे प्रफुल्ल स्वयं से दूना।
सखि ! जिन दिन लता-विकास चाहते ये-तो
मधु लता-वदन-पर हास चाहते वे-तो।
करते हैं ये कब हानि पुष्प खिलने में
अलि होते-पीड़ित-सदय लता-हिलने में।
ऐ स्वरस-मात्र गौरव प्रदान करते हैं,
अपना सब स्नेह उँडेल उसे भरते हैं।
क्या-काम आय मकरन्द ! न यदि ये सेवें
है व्यर्थ-लता-सौन्दर्य न यदि ये सेवें।

"सचमुच सुन्दर दमयन्ति ! तुम्हारा कहना,
पर, यों पौरुष-अनुरक्त तुम्हारा रहना।

क्या अभिव्यक्ति कर रहा मुझे बतलाओ !
अच्छा ! धीरे-ही कहो कान-मे आओ !
यों-सुनकर भैमी हुई तभी लज्जित-सी
जिससे आँखें सविशेष हुइ मज्जित-सी।
पाटल यों-हुए कपोल रक्त-को पाकर
सहमा सिमटी सब लाज वही ज्यों-आकर।
कुछ कहने भैमी चली रुकी पर सहसा
वह हेमलता-सी लचक मुड़ी पर सहसा।
अति चकित भ्रमित-सी खड़ी कामिनी बोली—
थी भुजा नाल-सी सखी चिटकती बोली।

देखो देखो, है सखी ! उधर वह बसा !
बैठा-है सुन्दर-हंस न देखा जैसा !
सुनकर भैमी थी चकित ठिठक-कर-थोड़ी
इंगित-पर मृग-सी दृष्टि विवश-हो-दौड़ी।
सम्मुख बैठा था हंस किये मुख नीचे
योगी-सा ध्यान-निमग्न दृगों-को मीचे।
कुछ आसपास भी उसे न सुध-सी लगती
पर चमक रहे थे पंख ज्योति-सी जगती।
मुख-पर उभार आश्चर्य भरी - सी रेखा,
आपाद हंस विस्मित-हुसी ने देखा।
वह दिव्य-दृष्टि जा पड़ी दिव्य खग पर जब,
रह गई प्रकृति भी स्तब्ध विमोहित-सी तब।'

है अहो भाग्य सखि ! आज हमारा कितना
क्या-हमने सचमुच पुण्य किया है इतना।
यह राजहंस कब कहाँ दीखता किसका
कृतकृत्य हुई हम आज देखकर इसका।

जब हो अशेष मकरन्द पुष्प-मुरझायें
फिर भौंरों तब भला न इनको भायें।
यह है पौरुष-का ह्रास विश्व-में भासी
कह रही यही वह शुष्क सुमन-की डाली।
केशिनी हुई चुप नेत्र उधर प्रेरित-कर,
अभिलाषा छिटकी इधर भीमजा-मुख पर।

'केशिनी न है यह बात तुम्हें क्या सूझा,
पौरुष-का कुछ महत्त्व न समझा-बूझा।
रजनी भर मुदता कभी अली फूलों में
विध-जाता कभी निरीह अली शूलों-में।
अपने प्राणों पर खेल लता को पाता
करता है इसको मुग्ध गीत-मधु गाता।
पाकर अलि का सर्वस्व, स्वरस ये देतीं
यह क्या-देना ! जो मान परस य देतीं।
देखो अलि का महत्त्व लता-को छूना—
कर देना उसे प्रफुल्ल स्वयं स दूना।
सखि ! दिन दिन लता-विकास चाहते ये-तो
मधु लता-वदन-पर हास चाहते ये-तो।
करते हैं ये कम हानि पुष्प खिलने में
अलि होते-पीड़ित-सदय लता-हिलने में।
ले स्वरस-मात्र गौरव प्रदान करते हैं,
अपना सब स्नेह उँडेल उसे भरते हैं।
क्या-काम आय मकरन्द ! न यदि ये लेवें
है व्यर्थ-लता-सौन्दर्य, न यदि य सेवें।'

"सचमुच सुन्दर दमयन्ति ! तुम्हारा कहना
पर, यों पौरुष-अनुरक्त तुम्हारा रहना।

क्या-अभिव्यक्ति कर रहा मुझे बतलाओ !
अच्छा ! धीरे-ही कहो कान-में आओ !
यों-सुनकर भैमी हुई तभी सज्जित-सी
जिससे आँखें सविशेष हुई मज्जित-सी।
पाटल यों-हुए कपोल रक्त-को पाकर
सहसा सिमटी सब लाज वहीं ज्यों-आकर।
कुछ कहने भैमी चली, रुकी पर सहसा
वह हेमलता-सी लचक मुकी पर सहसा।
अति चकित भ्रमित-सी सखी केशिनी बोली—
थी भुजा नाल-सी सखी भिटकती भोली।

"देखो देखो, हे सखी ! उधर वह कैसा !
बैठा-है सुन्दर-हंस न देखा ऐसा !
सुनकर भैमी थी चकित ठिठक-कर-थोड़ी
इंगित-पर मृग-सी दृष्टि, विवश-हो-दौड़ी।
सम्मुख बैठा था हंस, किये मुख नीचे
योगी-सा ध्यान-निमग्न, दृगों-को मींचे।
कुछ आसपास की उसे न सुध-सी लगती
पर चमक रहे थे पक्ष ज्योति-सी जगती।
मुख-पर उभार आश्चर्य भरी - सी रेखा,
आपाद हंस, विस्मित-हसी ने देखा।
वह दिव्य-दृष्टि जा पड़ी दिव्य तन पर जब,
रह गई प्रकृति भी स्तब्ध विमोहित-सी सब।"

है अहो भाग्य सखि ! आज हमारा कितना,
क्या-हमने सचमुच पुण्य किया है इतना।
यह राजहंस कब कहाँ दीखता किसको,
कृतकृत्य हुए हम आज देखकर इसको।

सोने के इसके पंख खींचते मन को,
होगा न प्रफुल्लित कौन ! देख इस घन को।
कितना प्रमुदित सा सौख्य दृगों में भरता
यह सदा दीखता रहे यही मन करता।
आओ कैसे भी धन इसे हम रोकें
रखकर पिंजड़े में बन्द सदैव विलोकें।
लेकर विटपों की ओट स्व-पाद उठाना
हो जाय न ध्वनि कुछ कहीं मन्द-गति आना।
सखियों को लेकर चली भीमजा चुप-सी
उस पद्म-हंस-पर आँख लगी मधुप-सी।
हो गया किन्तु खग सजग तनिक ध्वनि सुनकर
बढ़ गया इसी से और छप कुछ गुनकर।
तब सखियों से नृप-सुता श्रम से बोली—
थी आँखें आशा भरी मृगी-सी भोली।
सब साथ रहीं तो हाथ न यह आयेगा
ध्वनि होगी कुछ अनिवार्य भाग जायेगा।
अच्छा छोड़ो ! तुम मुझे और सब आओ
वे खिले-हुए हैं पुष्प उन्हें चुन लाओ।
मत आओ मेरे साथ अकेले जाऊँ,
जैसे भी हो यह हंस पकड़ कर लाऊँ।
सुन, विवश सखी चल पड़ीं पुष्प चय करने,
वैदर्भी भी इस ओर स्व-विस्मय-हरने—
बढ़-चली, पूर्व की भाँति, अनध्वनि गति-से
रह-गई तनिक-सी दूर, कि, जब खग पति से।
तब तनिक कूदकर विहग बढ़ा कुछ थोड़ा,
भैमी ने निकट विलोका, न साहस छोड़ा।
ज्यों-ज्यों कुछ भैमी बढ़ी, हंस भी वैसे,
बढ़ता था आगे हो न सके धृत जैसे।

पद-पद पर 'कर-ग्रास' समझ भीमजा-पीछे—
आती, सारा हो हंस, उसे ज्यों खींचे।
वह छाया की ही भाँति, चली-जाती थी,
कर, बार बार भी यत्न छली-जाती थी।
पर, होती भी न निराश, न धीरज हारा,
सोचा, पद-पद पर सफल कि, श्रम सब सारा।
भमी के मुख-पर जगे स्वेद कण ऐसे
प्रात कमलों-पर लगें, श्रोस-कण जैसे।
चलते चलते खग पहुँच-गया निर्जन-में
तरु-गुल्म-लता से पूर्ण सघन-उपवन-में।
अब श्वास तीव्र चल रहा थकित थी वासा,
इस खग-कौतुक को देख चकित थी बाला।
सहसा आ-बैठा हंस कूद शाखा-पर,
पानी-सा फेरा भीम-सुता आशा-पर।
करके उसको अति चकित-सुधा-सी वाणी,
यों, कहने लगा-खगेश, सुनो कल्याणी!
साधारण समझो मुझे न दिव्य विहग हूँ
शारदा-अम्ब-को वहन किया वह खग हूँ।
क्या-करा मुमुक्षि! तुम व्यर्थ पकड़ कर, मेरा
मैं, आया था इस ठौर क्षुधा-से प्रेरा।
सुजनों-को करके प्राप्त सौख्य-मिलता है,
ज्यों-रविकर का पा योग कमल खिलता है।
भोजन तो मिलना दूर क्षुधा अब आकर
तुम मुझे पकड़ने चलीं अरी! हृत्माकर।
शिशुता ने ही पर विवश किया यह तुमको,
चपलता ने ही भाव दिया यह तुमको।
अन्यथा शान्त हो तुम्हीं, विचारो मन-में
कर गई भूल तुम बड़ी सुनयने! क्षण-में।

हम पृथ्वी-जल-थल-अचल और हैं नभचर
हमको है प्राकृत प्राप्त पक्ष-ये-सुन्दर।
तुम केवल भूचर शुभे! अबला अबला हो
कोमल हो अति सु-कुमारी इन्दु-कला-हो।
चाहो फिर भी इस भाँति पकड़ना खग-का
पदचर को सम्भव कहाँ! पकड़ना खग-को।
भद्रे! न उचित व्यापार पकड़ना-मुझको
पक्षी को बन्दी बना मिले क्या-तुझको।

"मैं तुम्हें पकड़ लूँ हंस! न कुछ भी करती
केवल निज-विस्मय तुम्हें देखकर हरती।
अवलोक स्वर्ण-के पंख बढ़ा जो मुझको
तुमको पाने का नया चाव था मुझको।
सचमुच है मेरी भूल किया जो मैंने
खग! व्यर्थ तुम्हें यह कष्ट दिया जो मैंने।
तुम क्षमा करो अब मुझे विनय यह मेरी
इतना कहकर सुन्दरी भूमि-पर हेरी।
उपजा भय विस्मय साथ जगे सब मन-में
खग-धृत करने का मोह लुप्त था क्षण-में।

"तुम समझ न पाई अरे! भेद यह इतना,
बाले! मुझको यह देख खेद है कितना!
दीपक देखा अलि उगल तिमिर को खाकर,
पानी भी मुक्ता बने सीप का पाकर।
सगुणज ही तुम शाप-गुणों का मानों
बस, इसी भाँति तुम देवि! मुझे भी माना।

मोती ही मैंने चुगे सदा-से खाये
बस इस प्रभाव से स्वर्ण-पंख उग आये।
माँ-सरस्वती की दया देवि! यह जानो
इसलिए, न अचरज शुभे! हृदय-में मानो।
हाँ-मुझे पकड़ना व्यर्थ बताता हूँ मैं
जो तुम्हें पकड़ना उचित बताता हूँ मैं।
सुन्दरि! नल-नृप-का हाथ-पकड़ लो जाकर
हो जाओ सुमुखि! कृतार्थ उन्हें तुम पाकर।
अगणित हैं उनके भृत्य हंस मुझ जैसे
रहते हैं उनके पास विहगवर ऐसे!
देखोगी आगे! उन्हें हाथ-में लेकर,
तुम पूर्ण कराना उन्हें अनुज्ञा देकर।
हो गई दीनता नष्ट दान-से नल-के
हो गई मूढ़ता-दूर ज्ञान-से नल-के।
गढ़ उस सा कोई और न है अब जग-में
है अरि-कंटक अवशेष न उनके मग-में।
विधि-से हैं अगणित प्राप्त श्रेष्ठ गुण उनको
गिन-सकता कोई नहीं क्षमा-उत्तुंग-गण को।
विद्या उदारता दया और मन रंजन
वे-हैं सब में ही प्रथम दीन-दुख-भंजन।
सुनकर नल नृप-का नाम हुई तुम लज्जित
आपाद हुई संकोच सिन्धु-में मज्जित।
पर, अनुचित है यह आज तुम्हारी लज्जा,
करती है कभी अनिष्ट कुमारी! लज्जा।
इसलिए, न अब संकोच करो तुम इसमें
जीने-मरने-का प्रश्न निहित है जिसमें।
हाँ जीवन सार्थक तभी करो! अब नल-को
हो जाय तृषा-सी शान्त प्राप्त कर जल को।

मणि-काञ्चन का ही योग सत्य तब होगा
नल-दमयन्ती संयोग कि यह जब होगा।
यदि पा न सकी तुम उन्हें, विफल है जीवन
यह विफल दिव्य सौन्दर्य विफल यह यौवन।
तुम सुन्दरियों में श्रेष्ठ आजकल जैसे
हैं वीर धीर सौन्दर्य पूर्ण नल वैसे।
विधि ने सुन्दरता सिन्धु मथा यों जानो
निकले जिसमे दो रत्न तुम्हीं यों मानो।
फिर यदि वे दोनों मिलें अहा-क्या कहना
कर देगा भू को स्वर्ग तुम्हारा रहना।
माना कि इन्द्र भी बली गुणी सुन्दर है
अनुपम है विद्यावान सुरों में वर है।
हो जायेगा तैयार तुम्हारे हित वह
पर सोचो सुन्दरि! तुम्हीं न है समुचित यह।
किन्नरी अप्सरा यक्षी अनेकों रानी—
रहती हैं उनके निकट स्वयं वह मानी।
दो दिन भी तो तुम मान न उनसे पाओ!
हे दुर्विस्मित! कर उन्हें सदा पछताओ!
है यद्यपि योग्य धनेश किन्तु व्यवसायी
वह कार्याधिक न तुम्हें न हो सुखदायी।
सौंपो यदि अपना हाथ वरुण-के कर-में,
तो वह रक्खेगा तुम्हें मृत्यु-के घर-में।
हैं नक्र वहीं पर मीन काम से फिरते
जल होकर मानो अवश सिन्धु-में तिरते।
क्या वहाँ वास तुम भला-पसन्द करोगी
अन्तक-क्रीड़ा-सी देख न धैर्य धरोगी।
रह गया अग्नि जाज्वल्यमान है वह तो
उसको वरना ध्रुव, प्राण-नाश है वह तो।

यम हैं अति ही उद्दण्ड क्रूरता वाले
सुनकर आर्तों का रुदन अरोगी वाले।
हैं अन्य देव पर वे न उच्च पद वाले
आकर्षक भी तो नहीं, तदपि मद वाले।
सम्मानित होना वहाँ तुम्हें दुष्कर है,
हे नरी! तुम्हारे लिए योग्य-वर-नर है।
जिसमें नल सो नररत्न असा फिर-वैसा
पाओगी अवसर कहाँ मिले वर ऐसा।
मैं मान रहा हूँ आज तुम्हारा गहना
पर, उचित न करके आज मौन अब रहना।

हे हंस! जान यह पड़ा गुणाकर हो तुम
आतुप-पूर्ण जग बस दिवाकर हो तुम।
यह अहो भाग्य! जो आज मिले तुम मग-में
तुम जैसा पक्षी सुना न मैंने जग में
हे विहग! धन्य तुम धन्य तुम्हारी-वाणी—
कर्णों-को करती तृप्त सुधा-से सानी।
तुम अनुगृहीत हो स्वयं शारदा माँ-से
तुमने पाया भव-पार पाण्डा माँ से।
हाँ-तुमने जो कुछ कहा मानती हूँ मैं
कन्याओं के भी भाव जानती हूँ मैं।
एकान्त-प्राप्त-कर निज भविष्य-का चिन्तन
वे करतीं कैसा मिले हमें जीवन-धन।
उनका मन नाना-दिव्य-कल्पना करता
पर, अपने-में ही उन्हें-सँजोये रखता।
कहती वे अपने भाव सही-कब! किससे
तुम पूछ-रहे हो प्रश्न वही अब मुझसे।

मैं तो हूँ गड़ सी रही लाज के मारे
भवरज जो सम्मुख खड़ी देह-को धारे।"

"है योग्य तुम्हारे देवि! तुम्हारा कहना
नारी को पड़ता आह! विवश सब सहना।
इस मृत्यु-लोक में सुमुखि! जीव-गण-सारा
पुरुषों ने वश में किया कुटिल-मति द्वारा।
देखो महिमा भी आज विवश है कैसी
कहती न हृदय-का भाव अथवा तुम एसी।
पर यही विवशता तुम्हें बढ़ाती ऊँचा
पुरुषों से भी बहु-गुणा बताती ऊँचा।
पशु और नरों की एक भेदिका लज्जा
कुल वधुओं की है सर्व श्रेष्ठ यह सज्जा।
इसलिए, न मैं कह रहा कि लज्जा छोड़ो
तुम अपनी यह अनिवार्य सुसज्जा छोड़ो।
पर उचित जहाँ-हो वहीं लाज-पट तानो
मैं तो पक्षी हूँ मुझ से तुम मत मानो।
फिर लज्जा की भी बात न है कुछ इसमें
अवलम्बित जीवन-सत्ता तुम्हारी जिसमें।
मानो तुमने ही ठौर बिना [illegible]-मन-में
कर-दे वह अस्वीकार तुम्हें यदि क्षण-में।
तो भला बिचारा तुम्हीं दशा हो कैसी!
तुम हो साधारण नरी न औरों जैसी।
निज बच रीति अनुसार सती ही हो तुम
तो क्या-फिर-सहसा प्राण न तज दोगी तुम।
हो मुग्ध यदिपि [illegible] सब तुम्हारा देखो!
तो सम्भव सुभग बन मुदित पद्म [illegible]!

उस जन के जाकर निकट प्रमी मैं क्षण-में
कर-दूँगा तुम पर मुग्ध विचारो मन-में ।
यों कहकर था तम मौन विहग क्षण भर को
पकड़े थी भैमी इधर स्व-कर से कर-को ।
नीचे हग थे कुछ चाह रही-थी कहना
कह सकी न पर था भार मौन भी सहना ।
दौड़ाकर मुख-पर रंग विवश फिर बोली—
थी पदांगुष्ठ पर आँख मृगी-सी भोली ।
हे विहग ! श्रेष्ठ हैं निषधराज यदि जग में
वे प्रथम गण्य सौन्दर्य सुयश वय-मग में ।
भ्रमरों-द्वारा भी मान मान वे पाते
विरुदावलि जिनकी राजहंस भी गाते ।
तो है मेरा सौभाग्य अकिञ्चन पर वे—
कर क्या करें स्वीकार तुच्छ-सा कर वे ।
उनकी दासी बन-सकूँ भाग्य अपने पर,
हो-रहा नहीं विश्वास सुखद-सपने पर ।

'कटु-शिक्षा शीत का तप्त श्रवण को मीठा
सुन्दरि ! जो यह उद्‌गार करेंगे मीठा ।
कह-सकें, अकिञ्चन तुच्छ तुम्हें वे बाले !
नस तो सुन्दरी सुयाग्य कहेंगे बाले ।
फिर तुम्हें न वर-कर कौन चातुरी होगी
अवलोक तुम्हें तो मौन चातुरी होगी ।
पाकर तुमको निषधेश प्रफुल्लित होवें
उन स्वर्ण-क्षणों को भूल न भूपति खोवें ।
मैं तुमको यह विश्वास दिलाता भैमी !
यह विहग तुम्हारी आस जिलाता भैमी !

'प्रस्तुत मेरा सर्वस्व उन्हीं के हित है
अब वही करो तुम हंस! जो कि समुचित है।
है साधुवाद शत भीमनन्दिनी! तुमको
आशीष परम आनन्दकन्दिनी तुमको।
यह निर्णय सचमुच योग्य किया है तुमने
निज मति-का परिचय ठीक दिया है तुमने।
पर स्वयं न हो स्वाधीन बालिके! इस क्षण
इसका यदि करे विरोध तुम्हारा गुरु-जन।
या देख स्वयंवर-मध्य देव-गण आये
हे रमणि! तुम्हारा विवश हृदय बन जाये।
तब क्या होगा क्या सोच लिया यह तुमने
या यों-ही वचन-प्रदान किया यह तुमने।
थी हुई भ्रुकुटि कुछ कुटिल क्रोध में भरके
भैमी बोली निज दृष्टि वक्र यों करके।
क्या कहा भला क्या वचन टलेगा मेरा
पहले यह कुत्सित देह जलेगा मेरा।
हूँ पूर्णतया स्वाधीन स्वयं मैं इसमें
जीवन-का सुख दुख सभी निर्भरित जिसमें।
इसमें कोई अवरोध न कर सकता है,
है कौन विवश कर मुझे कि वर सकता है।
बेचारे सुर क्या-मुझ स्व-पथ से टालें
वे आकर मुझपर तनिक दृष्टि तो डालें।
रे विहग! अधिक क्या कहूँ सुनो प्रण मेरा
यदि हो न सके निषधेश प्राण-धन मेरा।
पहना-पाई यदि उन्हें न निज-वर माला
तो अविवाहित ही रहे सदा यह बाला।
मैं अनल पड़ूँ तो मरण अनल भी पाऊँ
हाँ नहीं किसी-को असित स्व-मुख दिखलाऊँ।

साक्षी-हों मेरे हंस सूर्य शशि उडु-गण
ये सिखी लतायें गगन सरोवर, उपवन।
इस पुण्य-भूमि पर जन्म लिया है मैंने
आर्य्यार्यों-का सत्संग किया है मैंने।
यह सदुपदेश दे रहा जहाँ कण-कण है
प्रण के आगे निस्सार-हीन, जीवन है।
छोड़ो न अधूरा उसे कहो जो मुख-से
साहस को रखना सजग न डरना दुख-से।
फिर सतियों के पद-चिन्ह कि जिसने देखे
हैं बने दुःख भी सौख्य कि जिनके लेखे।
मैं करूँ न वे पद-चिन्ह कलंकित उनके
हाँ और करूँ दृढ़ सती-कीर्ति-पट बुनके।
आ-देखें पथ सब विघ्न मुझे बिसमावें
जीवन रहते दृढ़ मुझे स्व-पथ-पर पावें।
हो सकता है निषधेश अनादृत करदें
पुरुषत्व-केन्द्र वे भले भग्न-व्रत करदें।
तब विदित अनल-पथ मुझे सहारा देगा,
इस नाव्या को यह सदय किनारा देगा।"

"हे भैमि! समझो सत्य मिलो तुम दोनों
दामिनी-मेघ-से मिले मिलो तुम दोनों।
जिसने शिव से संयोग किया गिरिजा का
श्री-हरि, का सुन्दर युग्म हिमांशु-मिणा-का।
उस विधि ने यह अभ्यास जमा क्या-अपना
जो हो न चन्द्रिके! पूर्ण तुम्हारा सपना।
आहा-कितना यह समय मनोहर होगा,
जब मम-कर-में यह सुमुखि! कमल-कर होगा।

जीवन ही उसके बिना निरर्थक मेरा
मैं रहूँ सदा सर्वदा सुमुखि-पद घेरा ।
यों-संबोधित कर तुम्हें निषधपति कहते
निज तन-मन पर दिन-रात व्यथा वे सहते ।
सहृदया नहीं हो भैमि ! एक दिन बोले—
हैं नूतन से स्मृत मुझे वचन वे भोले ।
जड़ का मैं यदि इस भाँति-उपासन करता
तो अपने-पर निश्चय अधम-मन हरता ।
पर अभी-अरचा हुई न पूजित होकर,
मैं उसका सेवक बना महीजित होकर ।
निज रोदन जल-से अर्घ्य उसे देता हूँ
उत्थानासन के समय नाम लेता हूँ ।
आकृष्ट न फिर भी भीम-नन्दिनी मुझ पर,
सहृदया-नहीं वह मोह ! कठिन उसका उर ।
कहते कहते रो-पड़े निषध-पति सहसा,
दुर्दैव मित्रों-को हुआ देख दुस्सह-सा ।
फिर तुम्हीं कहो ! हो गये मुग्ध जो ऐसे
कर-दिये अस्वीकार तुम्हें वे कैसे !
अब तक जिसको थी छिपा रही व्रीड़ा-से
नृप-सुता सिसक अब उठी उसी-पीड़ा-से ।
केवल मुख से कर आह ! हंस-से बोली—
मृग शावक जैसी आँखें-भरकर भोली ।
वह, आह हुई या वेग वायु-का आया
जिसने लज्जा का पूर्ण-पयोद हटाया ।
"जो थी भस्मावृत हुई, हृदय - की ज्वाला
उसको कर धृत-से संचित धधका-डाला ।
क्षण-भर छिड़काया, लवण अरे ! क्यों तुमने
थी सुप्त वेदना, सजग किया यों, तुमने ।

यों कहकर रह कुछ मौन त्वरित-फिर बोली—
वाणी भैमी की हुई करुण रस घोली।
हे हंस ! न हूँ क्या भाग्यशालिनी अब मैं
पाती-हूँ मन में स्थान कि उनके जब-मैं।
यदि भामपुत्र यों स्मरण मुझे कर-लेते
तो, पतिता को फिर मान न क्या-वे देते।
जो सुन्दरता को देख प्रेम - होता है
वह मोह ! आप-ही प्रेम-मूल्य खोता है।
वह कर स्व वासना पूर्ण नष्ट होता है,
उसमें दोनों ही ओर कष्ट होता है।
पर, मुझे उन्होंने कभी न देखा भाला
फिर भी अपने को प्रेम अनस में डाला।
है यही मानसिक प्रेम क्षेमकर जग में
यह दिव्य-सुधा बरसाता जीवन-मग-में।
हाँ एक पक्ष-से कभी नहीं यह होता
दोनों हृदयों में सभी कहीं यह होता।
मैं, बहुत दिनों से, भार्य्य - पुत्र - पद - चेरी
जो मिपधराज की दशा, वही है मेरी।
हे खग ! उनसे भी अधिक, क्यों कि वे नर हैं,
ज्ञानी विद्या-मति-सिंधु, भटों में वर हैं।
सहना फिर उन्हें वियोग न कुछ भी भारी
मुझको देखो ! मतिहीन अबल-कृश-नारी।
जब उनकी ऐसी दशा हुई इस दुख-से
तब क्या-है मेरी दशा कहूँ किस-मुख-से।
वे हैं सब विष-के घूँट जिन्हें पीती-हूँ
विस्मय होता, किस भाँति कि, मैं जीती-हूँ।
घट जाता है दुख - भार, कथन करने से,
शीतल होता उर दाह, आह, भरने - से।

दुर्गम अबला के लिए किन्तु पथ दोनों
क्या को ये सविशेष बहिष्कृत दोनों।
श्रुति-सुखद नाम वह सुना कभी से मैंने
कर आत्म-समर्पण-किया तभी-से मैंने।
मन मन्दिर में प्रिय पाद अर्चना करती
मैं इस प्रकार कुछ ताप हृदय का हरती।
दी वरमाला कर चुकी स्वयंवर बीता
है फिर भी हाय ! अपूर्ण अभी मनचीता।
अब आम्य-वरण बस लोक-दिखाना ही है,
देना उनको वरमाल पहाना-ही है।
वे नाथ हुए, हाँ-नाथ और मैं-दासी
मेरा मन तो है विहग ! अधम विश्वासी।
हा फूँक गया क्या मंत्र कौनसा मंत्री
कर गया हाय क्या-तन्त्र कौनसा ! तन्त्री।
क्या-जादू, उनपर मोह ! न भेद खुला है,
जो अबला-मन असहाय अदृश्य खुला है।
जब-से तिथि निश्चित-हुई स्वयंवर-की है,
तब-से बरसों के सदृश एक पल-भी है।
खग ! आर्य्य-पुत्र-के निकट पहुँच तुम जाना
कहना कि यहाँ अनिवार्य उन्हें है आना।
यदि आर्य्य स्वयंवर-मध्य न दृग्गत होंगे
तो इस अबला-के प्राण स्वयं हत-होंगे।
अबला हत्या का पाप चढ़ेगा उन पर,
लग जाय कल्मष फिर क्या-न भलाशुभ गुणपर।
पर, यह सब सुन वे मुझ हीन मानेंगे
निश्चय लज्जा से रहित मुझे जानेंगे।
उनसे मत कहना हंस ! अतः तुम कुछ भी
हाँ कह सकते हो बात स्वतः तुम कुछ भी।

मैं स्वयं सहूँगी सभी वेदना मन-की
पर, माँगें हठ कर रहीं मार्ग्य-दर्शन-की।
मैं तड़प-रही हतभाग्य भ्रजल-शफरी-सी
फटी सी आँखें रहें, पयोद भरी सी।

सहसा, खग-बोला-उधर तुम्हारी सखियाँ—
आ-पहुँची सुन्दरि! शीघ्र पोंछलो अँखियाँ।
तुम रहना इसी प्रकार सुदृढ़ निज प्रण-पर,
रखना पूरा विश्वास निषध-के धन पर।

'थोड़ा-सा ठहरो हंस! अभी आती-हूँ
मुक्ता चुगना-तुम शीघ्र लिये आती हूँ।

'मुक्ता-से भी बहु-मूल्य तुम्हारी वाणी
कर-चुका पान यह हंस जियो! कल्याणी!

उड़-गया हंस रह-गई ठगी-सी बाला
सुन सखी! सखी! सम्बोध जगी-सी बाला।
होता प्रभात-का चन्द्र गगन-में जैसा—
निष्प्रभ भैमी-वास्येन्दु हुआ अब वैसा।
उत्साह ह्रास सब साथ सुप्त-सा दीखा
उसको अपना संसार सुप्त-सा दीखा।
बलवती हुई यह किन्तु और अभिलाषा
दे-रही धैर्य परिपूर्ण उसे थी आशा।
अपने समान ही दशा स्व-प्रिय की सुनके—
हो रहा तोष कुछ, सुखद-मधुर-गुण उनके।

ये कर सब सञ्चित पुष्प प्रतीक्षा-करके
सखि ! हम आई पद-चिन्ह तुम्हारे धरके ।
हम तो थीं खो-सी गईं न तुमको पाकर,
क्या-सोच रही हो यहाँ विजन-में आकर ।
मुख पर कैसे आ रही उदासी आली !
क्यों ! आँख अरुण-सी हुई, अरी ! य कासी ।
भय लगा न क्या-कुछ तुम्हें यहाँ आने-म
हम तो सब थक भी गईं तुम्हें पाने-में ।
वह राजहंस है कहाँ ! न हाथों आया
पक्षी के पीछे, व्यर्थ कष्ट यह पाया ।

'मैं पकड़ न उसको सखी यहीं फिर बैठी
ये विविध-भाव उर-जग उन्हीं में पैठी ।
था कितना सुन्दर हंस नेत्र सुखकारी
आता वह कैसे हाथ ! गया नभचारी ।
अच्छा ! आओ घर चल काम अति बीता
लग रहा सुखद आराम मुझे अब रीता ।
आगे भमी-को किये चली सब सखियाँ
कुछ पाछ रही खोया-सा उसकी अँखियाँ ।
मन स्वच्छ न था भीमजा मान-सा भूली
डग मग डग मग पद-पड़ सांस थी फूली ।
वह बार बार हो सावधान चलती थी
पर, विगत क्षणों-की याद उसे छलती थी ।
उसका केशिनी सँभाल-लिये आती थी
पग-पग पर ही उद्बोध न्दिय जाती थी ।
है सखी ! तुम्हारा वस्त्र, गुल्म मे पकड़ा
रह गई यहीं क्यों-अरी ! चीर क्या-जकड़ा ।

यह बात कण्टकित इधर उलझ आभोगी
क्या सम्मुख पथ अवलोक न चल पाओगी ।
हो गया तुम्हें क्या-आज-सखी ! ओ ऐसी !
विक्षिप्तों सी भग-रहीं न देखी जैसी ।

हे सखी ! न है तन स्वस्थ उन्मना मन है,
छटपटा रहे-से प्राण वितप्त-बदन है ।
आँखों-आगे तम घहर घहर भरता है,
हो गया मुझे कुछ रोग जान पड़ता है ।
यों-सुन सैमी के वचन कमलिनी-बोली—
सचमुच हो तुम अनजान कुमारी भोली !
मायावी था-वह हंस रची कुछ माया
यह स्वर्ण-लता-सी देख तुम्हारी काया ।
आया क्या-कोई देव ! छद्म बनी बन
ले-गया चुराकर, मन्त्र-शक्ति से मृदु-मन ।
फिर कभी अकेले कहीं न जाना ! जाना
हम भी जाती थीं साथ न कहना माना ।
कहती सुनती आ गईं भवन में वे सब
नृप-सुता रोग-उपचार-व्यस्त थीं वे अब ।

उस ओर, खग-सन्तुष्ट हो, गाता हुआ था उड़ रहा,
वह दीप्ति-सा ऊँचे, कभी नीचे, कभी कुछ मुड़ रहा ।
वह, वृत्त सैमी-का सभी, नृप-से निवेदन जा किया,
पीयूष-का-सा पान वह नृप ने युगल श्रुति से पिया ।
दे साधुवाद खगेश को, आभार प्रति प्रकटित किया
था हर्ष से परिपूर्ण तब उस-युगल-मित्रों का हिया ।
दिन स्वयंवर-के गिन रहे अब निषधपति हर्षित हुए,
उस दिव्य-सी नृपनन्दिनी से पूर्ण आकर्षित हुए ।

पञ्चम सर्ग

'मृत्यु लोक भी धन्य हुआ आज न उसका अन्य हुआ।
स्वर्ग को अतिक्रमण किया मैंने उसमें भ्रमण किया।
प्रान्त विदर्भ वहाँ पर है शासक भीम जहाँ पर है।
आर्य्य भूमि का वह कोना ऐसा हुआ न है होना।
कुण्डिनपुरी राजधानी बसे धनी मानो ज्ञानी।
वहीं भीम नृप के घर में इन्दु उदित ज्यों अम्बर में।
त्यों दमयन्ती सुता हुई सब गुणों से युता हुई।
सुरपुर में भी आज कहीं है उसकी सुन्दरी नहीं।
अब वह स्वयंवरा होगी शोभित भाग्य-भरा होगी।
उत्सव सफल बनाना है ठाठ बाट दिखलाना है।
यही सोच अपने मन में आर्य मुदित हैं क्षण-क्षण में।
तैयारी में लगे हुए मानों हैं सब जगे हुए।
पर मेरा अनुमान यही निषधराज नल सौम्य वही।
सभी गुणी जो सुन्दर है सचमुच पुरुषों में वर है।
रात रात रवि मुंह पर जगते अमर न उस नर से लगते।
उसे देखकर वह बाला दे न अन्य को वर-माला।
किन्तु सफल जीवन करने मन में महा मोद भरने।
और देखने आर्यों का उनके उज्ज्वल कार्यों को।
जाना वहाँ समीचन है कहता यों मेरा मन है।
अतः सभी जाओ जाओ नहीं गए तो पछताओगे।'
ऐसी नारदोक्ति सुनके मन में सभी भाँति गुनके।
सज्जित सुर-पुर अधिवासी नैषध-दर्शन अभिलाषी—
हुए वहाँ पर जाने को अंग-सुमन सज आने को।
उरग यक्ष किन्नर गंधर्व चला यहाँ से सुर-गण सब।

हो मानव वेषी से वे   आर्य्य वर्त्त-देषी से वे ।
छद्मदूतियाँ निज निज-हाँ—   भेजीं सब ने पूर्व वहाँ ।
निज प्रेषक गुण गावें जा   जाकर उसे रिझावें जो ।
जिससे स्वयंवरा बाला   दे न अन्य को वरमाला ।
सुरपुर की शोभा सारी   आर्य्य-भूमि ने थी धारी ।
हुआ वि-सुर-सुरनगर वहाँ   प्रोषितपतिका वास जहाँ—
अपने अपने वाहन में   मानों विद्युत हो घन-में ।
वे सज्जित हैं कौन ! खड़े   होकर चारों मौन बड़े ।
वे वास चिन्ह् गात वाले   सज्जित-वज्र हाथ वाले ।
और कौन ! सुरनाथ वही   वरुण' 'अग्नि यम साथ वही ।
अग्निदेव का तेज भरे !   सुलगते है दृग हरे ! हरे !
'वरुण' पाश को लिये हुए,   मैत्री-में मन दिए हुए ।
बैठ कैसे निश्चल हैं,   सोच रहे जल कुछ सत हैं ।
यम ने निज-वाहन छोड़ा   महिषराज-से मुँह मोड़ा ।
और आज रथ में बैठ,   सोच रहे सज्जित ऐंठे ।
जाते ही क्यों-आज इन्हें,   मैमी अपने लिए चुने ।
उस समय अनुकूल सभी   सुरपुर से वे चले सभी ।
था रथ-चाप पयोदों-सा   तुरग-ओघ था योधों सा ।
सुर-सरि जल के साथ चले,   तट पर चलते लगे भले ।
अपने हाथों कटे हुए—   पक्ष सभी के सटे हुए—
डाल स्वाहृष्टि पहाड़ों पर,   जमे विघ्न से झाड़ों पर ।
ये नाकेश चले जाते   वे तीनों भी ये आते ।
मैं हूँ सुन्दर सजा हुआ,   मम यश डंका बजा हुआ ।
मुझे छोड़कर इन्हें कहीं,   मैमी-करे पसन्द नहीं ।
चारों के ये भाव यही   आई तब तक आर्य्य-मही ।
क्रम से चारों उतर पड़े,   हाथ जोड़कर हुए खड़े ।
गद् गद् हो गुण-गान किया   आर्य्य भूमि को मान दिया ।

हे हिम अचल मुकुट वाली सस्य-श्यामलित पट वाली ।
धोता है पद सिन्धु-उधर, भाल विराजे इन्दु इधर ।
ऋतुएँ क्रम क्रम से आतीं सुधा-प्रवर्षण कर जातीं ।
भाँति भाँति के अन्न यहाँ होते हैं ये और कहाँ ।
सुर-सरि से भी सुन्दर-ये हैं अब नदी झील सर ये ।
हरि ने कितनी बार धरे ! जननी ! तुम पर जन्म अरे ।
तज कर स्वर्ग यहाँ आना जन्म अजन्मा का पाना ।
कितना तुझे बढ़ाता है दिव से उच्च बनाता है ।
मर-सकते हम अगर कहीं तो आ धरते जन्म यहीं ।
मरना जीना यथा यहाँ— न रगत है, अन्यत्र कहाँ ।
कम-साध्य हैं यहाँ सभी रुचिर स्वाद हैं यहाँ सभी ।
यद्यपि मुनि जन तपपूत यहीं आदि ज्ञान के दूत यहीं ।
पतित पावनी मात तुही स्मरणीया नित प्रात तुही ।
ऋषी गुणी तुमपर जन्मे तुझ पर धर्म धुनी जन्मे ।
जिन्हें जन्म तुम देती हो जिनकी सुध तुम लेती हो ।
धन्य पवित्र हुए सब वे गेय चरित्र हुए सब वे ।
मद-सा चढ़ता जाता है, यही चित्त में आता है ।
तुमको देखा कर यहीं सुखदायक प्रिय पुण्य मही !
आँखें आज कृतार्थ हुईं अपनरता भी सार्थ हुई ।
हो प्रणाम स्वीकार तुम्हें वर माँ ! अंगीकार हमें ।
कहते कहते देव तभी झुक भूमि-पर माथ सभी ।
रज-कण लेकर हाथों-से लगा-लिये निज माथों से ।
हो गद गद मन तभी भले बैठ रथों में सभी चले ।
जल-थल गगन पहाड़ों में विटप-गुल्म में झाड़ों में ।
ये अविराम यान जाते बाधा कहीं न ये पाते ।
अटवी आई कहीं नदी कहीं मिली गिरि-भूमि कड़ी ।
सस्य-निराले कृषक कहीं जिनकी सब सम्पन्न मही ।
प्रिय-हित गाने लिये हुए ध्यान गीत में दिये हुए ।

सुन्दर सुमन-समान खिलीं कृषक-तरुणियाँ उन्हें मिलीं।
सस्य रक्षिका जहाँ-तहाँ बैठी गाती गीत वहाँ।
कहीं धेनु चरतीं चारा फिरता साथ वत्स-प्यारा।
गोप दण्ड-धर घूम रहे शासक-मद में झूम रहे।
भार फलों का सहन न कर, झुके हुए थे शाखी-वर।
विविध सुदृश्य निरखते थे जाते विबुध न थकते थे।
देखी भूमि फली फली अमरावती उन्हें भूली।
सहसा चौंके शक्र तभी यह क्या-दीखा अरे! अभी।

'भद्रो! यह सेना किसकी हो न सके गणना जिसकी।
कितना सुन्दर शिविर पड़ा बसा हुआ ज्यों नगर बड़ा।
टिके सुभट कमनीय बड़े हय-गज दुर्दमनीय खड़े।
क्या - यह पड़ी देव सेना उसे यहाँ पर क्या-लेना।
उधर अकेला वह नटवर बैठा है कितना सुन्दर।
इसे देखकर ध्यान यही होता है अनुमान यही।
स्कन्द-सहित ज्यों ओज भरी सुर-सेना नभ-से उतरी।
मघवा ने यह बात कही चौंक पड़े सब सचमुच ही।
सहसा सब के मान रुके सुरेशोक्ति पर ध्यान झुके।
लगे देखने सभी उधर बैठा था-वह युवक जिधर।
उसकी सुन्दरता-ऐसी अमरों ने नरखा ऐसी।
हटी न दृष्टि चकोरी-सी, नभ-मुखेन्दु-पर चौरी-सी।
तभी बिडौजा बोल-उठे वाणी-में रस घोल-उठे।
है यह मत निरपेक्ष अरे! सर्वभाव अनपेक्ष अरे।
है मेरा अनुमान यही विश्व-दृष्टि का ज्ञान यही।
वे तीनों सुनकर चौंके कपि-सुमन ज्यों पा झोंके।
देव! ठीक अनुमान यही है अमरराज महान यही।
आहा, कितना सुन्दर है, भू-अवतरित सुधाकर है।

आँखें कितनी बड़ी बड़ी कानों पर हैं सटें पड़ीं।
मुकुट सुशोभित है सिर-पर, शशि शोभित ज्यों नटवर-पर।
तेज भरा यह भाल महा! जगता दिनकर-बाल महा!
गठित भुजा लम्बी कितनी! कन्ध बों पुरुषों-की इतनी!
विस्तृत वक्ष उभरता-सा दृग आकर्षित करता-सा।
कितना दिव्य शरीर मिला स्वय अवनि-पर कल्प खिला।
नर जब बर आकृति-पाते गुण स्वयमेव बसे आते।
अतः न सुन्दर ही जानो इसे गुणाकर भी मानो।
स्वयम्वरोत्सुक आता है यही समझ में आता है।
सच यदि कुण्डिनपुर जाये यह ध्रुव भैमी-को पाये।
इसके होते कभी कहीं अन्य-वरण वह करे नहीं।
क्षण-में कार्य सभी निबटें क्यों-फिर इतने घन-सिमटें।
सत्य न होगा यदि सपना जाना व्यर्थ वहाँ अपना।
दृग-प्रेरित कर मुस्काये यान छोड़ नीचे आये।
लगी-मन्त्रणा फिर होने बीज-कुटिल-से कुछ बोने।
उभरीं चिन्ता की रेखा सबने सुरपति को देखा।
दृष्टि खोजती-अर्थ भरी— चिन्तोदधि में सहज तरी।
सुरपति से फिर बोले यों देव! अड़े घन भोले क्यों।
हो सुरपुर के नाथ तुम्हीं दिग्पालों के हाथ तुम्हीं।
धाम बनो कोई ऐसा यहाँ न यह आये जिससे।
इनका वृत्त हमें-सारा— सु-विदित गुप्तचरों-द्वारा।
हैं अनुरक्त परस्पर ये भैमी के निश्चित वर ये।
जीवन-सुखी बनाने को दम्पति ही बन जाने को।
दोनों ने प्रण किये कड़े प्रणय-अग्नि-में तभी पड़े।
देखेंगे हम स्वय यहीं भैमी की स्पर्धोक्ति यहीं।
यही विचार नृपति-का है अपना भैमी-पति का है।
यदि न यहाँ-पर ये जायें बने! दम्पति बन पायें।
प्रभु इन दोनों को-परखो सौदामी इनका पर-खो।

पातिव्रत मैनी का यह   सत्यव्रत इनका भी यह—
आज परीक्षा में डालो   अब कुछ मत देखो-भालो।
कहा शक्र ने हँसकर यों   क्या-खोगे तुम फँसकर यों।
अच्छा, तो है यही भले!   सब जन निज निज कार्य करें।
मैनी के हैं योग्य यही   इसका समुचित योग्य यही।
इनकी जोड़ी मिले-भली   मिल जाये घन-से बिजली।
इनके अनुपस्थित रहते   और स्वयं कहते कहते—
यदि मैनी ये करे न ये   दिव्य-तरी-से तरे न ये।
तब मैनी की गुणवत्ता,   पातिव्रत की सब सत्ता।
स्वयं धूलि में मिल जाये,   वह न गुणवती कहलाये।
मिले मर्गों से जहाँ-कहीं   कब जीते हम, नहीं! नहीं!
मेरा अपना अनुभव है   नर-से देव-पराभव है।
किन्तु तुम्हारा यह आग्रह,   आयेगा यद्यपि विग्रह।
मुझको अंगीकार रहा   कौतुक अब कुछ करें महा।
मुझसे टला सुराग्रह कब   जो मैं इसको टालूँ अब।
यह नृप, पुरुषों में मणि है,   सच्चा यशोधनी ही है।
वचन से यह न मुकरेगा   कहने पर सब कुछ देगा।
इसकी प्रियतर वस्तु अभी   माँगेंगे हम पहुँच सभी।
कर कुछ हील हवाले यह   यदि दे वचन, न पाले यह।
फिर देवासन-प्राप्त इसे—   होगा कभी न प्राप्य इसे।
और क्षीण हों पुण्य सभी   मिले न शुभ-फल मैनी भी।
एक पथ दो काज बने,   ऐसा कुछ छल-जाल बुनें।
सती परीक्षा भी होगी   जग-हित, नव-शिक्षा होगी।
सावित्री का भाग बड़ा   ज्यों धूसरित सुरत्न पड़ा।
अब वह शापित-सा होगा   पुनः प्रमाणित-सा होगा।
नव जागृति हम लायेंगे,   दुनियाँ को दिखलायेंगे।
दिया वचन पूरा करना   श्रेष्ठ, अन्यथा है मरना।
यही हमारा ध्येय महा!   जग-में धर्म स्थापना हो।

भैमी इनको वरण करे, प्राणों-का या हरण करे।
वहाँ अन्य सबका जाना, मैंने तो निष्फल माना।
किन्तु, वहाँ चलना होगा और इसे! छलना होगा।
तब कुछ नई-कान्ति-होगी, अपगत सकल भ्रान्ति-होगी।
यों-कह मघवा चले तभी यम वरुणानल साथ सभी।
बैठे थे निषधेश जहाँ पहुँचे सब दिग्पाल वहाँ।

सुनकर सुर-पद-की आहट, स्वागत-हेतु, उठे नल झट।
ज्वार तनोदधि मे आया मन-में भाटा-सा छाया।
वेशाकृति से ही जाना मन-में महा उन्हें माना।
नत पदों-में क्रम-क्रम से झुके नरेश अथक श्रम से।
देवों ने आशीष दिया नृप का हर्षित हुआ हिया।

'हम-सुरपुर के वासी हैं अनवद्य अभिलाषी हैं।
कहिए, कुशल क्षेम तो-है ममता नित्य-नेम तो है।
भूपति हो तुम धन्य अरे! सचमुच वीर अनन्य अरे!
सुभट सभी तुमसे थकते देख तुम्हारा मुँह सकते।
तुम नित नूतन मख करते अनावृष्टि भू-से हरते।
मख-में भाग निकलता है, वह हम सबको मिलता है।
देवों के अवलम्ब तुम्हीं धर्म ध्वजा के स्तम्भ तुम्हीं।
सु-यश दिशाओं में व्यापा सुर-पुर तक जिसने मापा।
आज स्वयं हमने आकर दर्शन दिये तुम्हें पाकर।
पुण्य तुम्हारे उदित हुए, हम भी तो अति मुदित-हुए।
निषधराज बोले-सहसा मन उनका अति ही रहँसा।
ओठों - पर कुछ लहर चली मानों खिलने चली कली।
निर्निमेष दृग देख प्रभो जान गया सब दास विभो।
दर्शन देकर नाथ! मुझे, किया महान् कृतार्थ मुझे।

पुण्य कहाँ मेरा इतना यह है प्राप्त देव वरुण।
तप बस आज स-मूर्त सभी मेरी इच्छा पूर्ति सभी।
किन्तु, एक जिज्ञासा है महती सी अभिलाषा है।
कौन! कौन! हैं आप हरे! सेवक परिचय प्राप्त करे।
आने का क्यों कष्ट किया व्यर्थ निज समय नष्ट किया।
दास अनुज्ञा यदि पाता स्वयं उपस्थित हो जाता।
बोले सुरपति मुस्काकर दन्त कान्ति सी फैलाकर।
ओ नलराज! पुनीत सखे! हमने तुम न कहीं देखे।
फिर भी तुमको जान गये तुम नल हो हम मान गये।
कठिन न यह हम कुछ मानें सुर पर-मन तक की जानें।
देवराज मैं इन्द्र बड़ा जो शतमख विख्यात बड़ा।
और इधर ये पावन से पाश-लिये मन भावन से।
स्वयं उपस्थित वरुण महा देते दर्शन तुम्हें अहा।
आप! अटिम तेजोधर-से दीख रहे जो सुन्दर से।
पूत सु-अग्नि उपस्थित है करते जो नित जग-हित हैं।
और इधर ये दण्ड लिये मुख-पर तेज प्रचण्ड लिये।
धर्म-रूप दुर्दम यम हैं, चारों लोकपाल हम हैं।
तुम्हें देखकर आज अरे! हैं हम सब अति-हर्ष-भरे।
भद्र! तुम्हें यों सम्मुख पा इच्छा हो तो विस्मय क्या।
तुमसे है यह धन्य धरा तुमसे है मन हरा भरा
इधर अचानक आ-निकले— हम अब तुमसे मिल-मिले।
निषधनाथ! अवलोक तुम्हें, कुछ इच्छा हो गई हमें।
मन-में पर-हित को धरके वत्स! कार्य पूरा करके।
तुष्ट करो तुम आज हमें फिर मुँह-माँगा मिले तुम्हें।

"यह, हूँ-क्या-मैं धन्य नहीं, आज न मुझसा धन्य कहीं।
मुझसे तुम सेवा मांगे देव स्वयं आज्ञा देते।

दास प्राण को देकर भी पूरी आज्ञा करे सभी।
शीघ्र देव ! कुछ शीघ्र कहो ! आज्ञा-दो मत मौन रहो।
मौन हुए भूपति भोले उत्तर में सुरपति बोले—
सुर किन्नर गन्धर्व तथा सेवा उद्यत कौन ! न था।
जो हम कहते है तुम से, कहा न हमने क्यों उनसे।
वे ऐसे गुणधाम कहाँ ! कर पाते यह काम कहाँ।
केवल तुम कर सकते हो विघ्न-सिन्धु तर-सकते हो।
है यह काय बड़ा दुस्तर पर तुमको करना सत्वर।
सोच समझकर 'हाँ' करना पड़े न लज्जा से मरना।
नृप ! तुम उत्तम वंशज हो स्वयं चन्द्र के वंशज हो।
जन्म वहाँ जो पाते है अपना वचन निभाते हैं।
प्राण भले ही जो जावें वचन पूर्ण पर हो जावें।
सोच समझ लो और अभी करना अङ्गीकार तभी।'

'पाकर सम्मुख पात्र सही सोच समझ का प्रश्न नहीं।
अर्थी हो यदि पास खड़ा कितना भी हो प्रश्न कड़ा।
केवल क्रिया सदुत्तर है वहाँ विकल्प न हितकर है।
जिस कुल में यह दास हुआ कब!जन वहाँ निराश हुआ।
और यहाँ तो स्वयं सुरेश— हैं सम्मुख पुण्य-प्रद-वेश।
तब क्या मैं सोचूँ मन में अच्छा बुरा श्रेष्ठ धन-में।
देव ! आपका कार्य करूँ ! व्यर्थ ! नहीं तो देह धरूँ।
कर्म न बस वसकित में हूँगा कहीं न शकित मे।
बड़ी व्यग्रता धैर्य गया क्या यह दैविक कार्य नया।
साक्षी प्रभुवर आप सभी करता है प्रण दास अभी।
पूर्ण कार्य यदि मैं न करूँ तब न विकुसित देह धरूँ।
मेरा सभी पुण्य क्षय हो मुझे न प्राप्त कहीं जय हो।
सद्गति पाऊँ एक नहीं रहे न माप विबक कहीं।

साधु-साधु की ध्वनि से सब कम्पित-सा था वह स्थल-सब।
वज्री बोले हर्ष भरे, धन्य स्वयं हैं देव भरे।
मरु थल में यह कुमुद खिला जो तुम जैसा मित्र मिला।
मन्य भूप हैं कूप यहाँ केवल तुम हो उदधि महा।
यों उत्साह जहाँ पर हो फिर क्या-कठिन वहाँ-परहो।
अच्छा! अब तुम काम सुनो भली भाँति फिर उसे गुनो।
तुमको देव ताप हरना इनका दौत्य कार्य करना।
चिन्ता करो न कुछ उर-में जाओ अब कुण्डिनपुर में।
निकट पहुँच गुणवन्ती के— भीम-सुता दमयन्ती-के।
काम कुशलता-से लेना, यों सन्देश उसे देना।
उसका निकट स्वयंवर है चुनना उसको निज-वर है।
अतः स्वयंवर में बाला दे न अन्य-को वर-माला।
हम चारों पर ध्यान धरे! किसी एक को वरण करे।
हम उस पर आसक्त हुए देव उसी के भक्त हुए।
यदि वह हो तैयार नहीं मान न जाना हार कहीं।
चतुर्नीति-से समझाना अतुल सुरों-का यश गाना।
उसमें देव प्रेम भर दो— पूर्ण मुग्ध हम में कर-दो।
यह सब कर सुरकार्य वहाँ, आना सत्वर लौट यहाँ।
यहीं तुम्हें हम पायेंगे तब तक कहीं न जायेंगे।
जाने से पहले गुन-लो, कह देना यह भी सुन-लो।
हानि लाभ बतलाने पर सु-यश सुरों-का गाने-पर।
यदि वह मरी नहीं माने बालोचित कुछ हठ ठाने।
तो कहना यह बात सही समझे कोरी विनय नहीं।
हम हैं देव शक्तिधारी! वह है अबला सु-कुमारी!
हमें न वरना उस बेला, देवों की हो अवहेला।
सहन न हम यह करें कभी वहीं क्रोध में भरें सभी।
कोप हमारा सुविदित है, कौन! न उससे परिचित है।
सुर, नर, असुर, सशक्ति-से— हमसे सब आतंकित-से।

दास प्राण को देकर भी पूरी आज्ञा करे सभी।
शीघ्र देव! कुछ शीघ्र कहो! आज्ञा-दो मत मौन रहो।
मौन हुए भूपति धीमे उत्तर में सुरपति बोले—
सुर किन्नर गन्धर्व तथा सेवा उद्यत कौन! न था।
जो हम कहते हैं तुम से, कहा न हमने क्यों उनसे।
वे ऐसे गुणधाम कहाँ। कर पाते यह काम कहाँ।
केवल तुम कर सकते हो विघ्न-सिन्धु तर-सकते हो।
है यह काम बड़ा दुस्तर पर तुमको करना सत्वर।
सोच समझकर 'हाँ' करना पड़े न लज्जा से मरना।
नृप! तुम उत्तम वंशज हो स्वयं चन्द्र के अंशज हो।
जन्म यहाँ जो पाते हैं अपना वचन निभाते हैं।
प्राण भले ही तो जावें वचन पूर्ण पर हो जावें।
शेष समझ लो और अभी करना अङ्गीकार तभी।

पाकर सम्मुख पात्र सही सोच समझ का प्रश्न नहीं।
अर्थी हो यदि पास खड़ा कितना भी हो प्रश्न बड़ा।
केवल क्रिया सदुत्तर है वहाँ विकल्प न हितकर है।
जिस कुल में यह दास हुआ कब जन वहाँ निराश हुआ।
और यहाँ तो स्वयं सुरेश— हैं सम्मुख पुण्य प्रदेश।
तब क्या मैं मापूँ मन में अच्छा बुरा श्रेष्ठ धन-में।
देव! आपका कार्य करूँ। व्यर्थ! नहीं तो देह धरूँ।
बनूँ न यश समर्पित मैं हूँगा कहीं न शापित मैं।
बड़ी व्यग्रता धैर्य गया क्या वह दैविक काय नया।
साक्षी प्रभुवर आप सभी करता हूँ प्रण आज अभी।
पूर्ण कार्य यदि मैं न करूँ तब न विकसित देह धरूँ।
मेरा सभी पुण्य क्षय हो मुझे न प्राप्त कहीं जय हो।
सद्गति पाऊँ एक नहीं रहे न साथ विवेक कहीं।

साधु-साधु की ध्वनि से तब कम्पित-सा था वह स्थल-सब।
वज्री बोले हर्ष भरे धन्य, स्वयं हैं देव अरे।
भव पथ में यह कुमुद खिला जो तुम जैसा मित्र मिला।
धन्य भूप हैं भूप यहाँ केवल तुम हो उदधि महा।
यों उत्साह जहाँ पर हो फिर क्या-कठिन वहाँ-पर हो।
अच्छा ! अब तुम काम सुनो भली भाँति फिर उसे गुनो।
तुमको देव ताप हरना इनका दौत्य कार्य करना।
चिन्ता करो न कुछ उर-में जाओ अब कुण्डिनपुर में।
निकट पहुँच गुणवन्ती के— भीम सुता दमयन्ती-के।
काम कुशलता से लेना यों सन्देश उसे देना।
उसका निकट स्वयंवर है, चुनना उसको निज-वर है।
अत स्वयंवर में बाला वे न अन्य को वर-माला।
हम चारों पर ध्यान धरे। किसी एक को वरण करे!
हम उस पर आसक्त हुए, देव उसी के भक्त-हुए।
यदि वह हो तैयार नहीं मान न जाना हार कहीं।
चतुर्नीति से समझाना अतुल सुरों-का यश गाना।
उसमें देव प्रेम भर दो— पूर्ण मुग्ध हम में कर-दो।
यह सब कर सुरकार्य वहाँ आना सत्वर लौट यहाँ।
यहीं तुम्हें हम पायेंगे, तब तक कहीं न जायेंगे।
जाने से पहले सुन-लो कह देना वह भी सुन-लो।
हानि लाभ बतलाने पर, सु-यश सुरों-का गाने-पर।
यदि वह नरी नहीं माने, बालोचित कुछ हठ ठाने।
तो कहना यह बात सही समझे कोरी विनय नहीं।
हम हैं देव अधिकारी! वह है अबला सु-कुमारी!
हमें न वरना उस बेला, देवों की हा अवहेलना।
सहन न हम यह करें कभी, वहीं क्रोध-में भरें सभी।
कोप हमारा सुविदित है, कौन! न उससे परिचित है।
सुर, नर, असुर, सशक्ति-से— हमसे सब आतंकित-से।

"अरे भूप ! क्या-कहते हो   अपयश नद में बहते-हो ।
कुछ क्षण पहले वचन कहे   क्यों अब उनको भूल रहे ।
देते थे तुम प्राण हमें   रहा न क्या-यह ध्यान तुम्हें ।
पर न प्राण माँगे हमने   उलटे हल्की कहा तुमने ।
काम बताया यह थोड़ा   उससे भी यों मुँह मोड़ा ।
सदा एक पथ चलते हम   कहकर नहीं बदलते हम ।
अब, देवों के वचन यहे—   जो आज्ञा-हो चुकी रहे—

'प्रभु ! यह थोड़ा काम नहीं   भैमी-सम धन धाम नहीं ।
भीम नन्दिनी सुन्दर वह,   मुझे प्राण से बढ़कर है ।
यदि न भीमजा मुझे मिली   जीवन-की कुम्ह-लाय-कली ।
देव ! धर्म संकट-से अब   पार-उतारो मुझको सब ।'

"अच्छा ! अब सुर जाते हैं,   वचन न पूरा पाते हैं ।
हाथ सु-यश से तुम धोओ !   देव-समय पर मत खोओ ।
तुम थे यशोधनी समझे,   पुण्य-वर्ग में मणि समझे ।
अब हमने सब कुछ जाना   अपना कुछ तुमसे पाना ।
देव हुए गमनोद्यत से   बोले-तब नल उन सब-से ।
जाओ मत, ठहरो ठहरो !   वज्र बने बहरो, बहरो ।
वहाँ अभी जाऊँगा मैं,   उसको समझाऊँगा मैं ।
किन्तु, देव यह नीति बुरी,   करती है अनरीति बुरी ।
सुर-पति-दौत्य करूँगा मैं   अपने हाथ मरूँगा मैं ।
तुमने ऋषि-मुनि-जन सारे   धोखा दिया छपा - हारे ।
ऋषि दधीचि के प्राण लिये,   पक्ष-हीन सब अचल किये ।
क्या देवत्व महान यही   क्यों न खिसकती स्वर्ग-मही ।
देव ! अमृत का पान किया,   और अमरता-दान लिया ।

अब, यह भी सब भोले से कुटिल नीति के भोंके-से ।
तब न कुटिलता भामे क्यों छूप न या करवाये क्यों ।
कारण-जनित प्रभाव बढ़े कृत्या पर अनिवार्य पड़े ।
अमर-कुटिलता कभी कहीं ! जा-सकती क्या-नहीं ! नहीं !
किन्तु, पथिक तब जग रोया, जब सर्वस्व लुटा खोया ।
निज बल कभी न टालूँगा दिये वचन वे पालूँगा ।
भैमी हीन प्रवस्य मरूँ फिर क्यों कलुषित सुयश करूँ।
यह सुरत्व कौटिल्य भरा सहन न अब कर सके धरा ।
नष्ट भ्रष्ट होगी सुरता देव-भक्ति हा हन्त ! चला ।
हे देवो ! दुष्पथ छोड़ो कुकृत्यों से मुँह मोड़ो ।
अब न किसी को ठगो कहीं सावधान हो जगो यहीं ।
मैं, मानवता के वश अब लुटा स्वयं देकर सर्वस्व ।
पर, यह भजय अमरता की, और विजय ध्रुव ! नरता की ।
यों-कह निषधराज द्रुत से जाने को थे प्रस्तुत-से ।'

"नहीं शिष्टता को छोड़ा और न भय से मुँह मोड़ा ।
निज प्रण-पर भी सुस्थिर हैं, मरने को भी तत्पर हैं ।
और स्पष्टभाषी कितना ! हमने कब, देखा इतना !
सुनकर देव सुलज्जित थे वोर्ले-शाक सु-सज्जित स ।
सुनो वचन निषधेश भरे ! क्यो, हो यों आवेश-भरे ।
वचन पालना कम बड़ा, जग-में है यह धर्म बड़ा ।
अपना वचन निभाकर यों— धन्य रहो यश पाकर यों ।
अपना स्वयं धीरज करना, अबल सुयश को है हरना ।
अत न हम आ-सके यहाँ आकर तुमसे कहा यहाँ ।
क्यों-कि इन्दु-यशी तुम हो उज्ज्वल - चन्द्र-वंशी तुम हो ।
सु-यश तुम्हारा बड़ा - चढ़ा है सबत्र सु - नाम कढ़ा ।
तब निज वचन पूर्ण करना, ध्यान सुरों-का यों-धरना ।

निज-कुल-नाम बढ़ाना है अतुलित यश फैलाना है।
जग में ऐसे भी जन हैं जो न निभाते निज-प्रण हैं।
तनिक स्वार्थ-हित हरे! हरे! उनमें ये दुर्भाव-भरे।
व्यर्थ कलंकित होते हैं पुण्य, पाप से धोते हैं।
तो जोएँ, अधिकार उन्हें हुआ देह से प्यार उन्हें।
पर वे यह न भूल जायें सदा न जग में रह पायें।
यह तन सदा न धरना है एक दिवस ध्रुव! मरना है।
अमर सुयश नश्वर तन है, आता लौट न गत क्षण है।
समय हाथ से जब निकले तब क्या होता हाथ-मले।
नश्वर भोगों को देखो और अनश्वर यश लेखो।
उस दधीचि से शिक्षा लो पर हित में निज तन भी दो।
दान न तन यदि करते वे तदपि एक दिन मरते वे।
किन्तु, जानता कौन उन्हें अन्य मानता कौन उन्हें।
जीवित है वह, कहाँ मरा! गाती जिसका सुयश धरा।
फलते देव अभीष्ट सदा किसका किया अनिष्ट कदा।
शक्ति अलौकिक है हम में है प्रकाश हम ही तम में।
यहीं बैठ हम सुरपुर में दूत भेज कुण्डिनपुर में।
भैमी को मँगवा लेते कष्ट न तुमको भी देते।
पता किसी को चलता क्या पर यह हमें न जमता क्या।
है यह यही सुरत्व महा जो उस पथ से रोक रहा।
हमें रुष्ट कर पछताओ तुष्ट न तुम भी रह पाओ।
मानों यदि तुम नहीं गये तो अपयश सिर चढ़ें नये।
मिथ्यावादी होगे सब कुल की शान मिटेगी सब
हम भी मचा विघ्न करके या दमयन्ती को हरके।
रोक स्वयंवर को सकते हम से सभी लोक थकते।
इधर रुष्ट हो देव-सभी पत्नी मिले न भैमी-भी।
यों नृप उभय भ्रष्ट होंगे सुगम विनष्ट नष्ट-होंगे।
इसीलिए हम कहते हैं, निश्चय वचन जो महत हैं।

जो होना, सो होता है   सुधी समय कब खोता है।
अत भद्र! जाओ, जाओ   सन्देशा दे ही आओ।
अपना वचन निभाकर यों,   जग में यश फैलाकर यों।
देव-गेय, निज करो कथा   कहते हम 'स्वस्त्यस्तु' तथा।
हुए विवश नृप सुनकर यों,   कीलित-सर्प कहीं हो ज्यों।
पर, सहसा कुछ सोच तभी   खोद हृदय-सकोच सभी।
नृप ने कहा—ठीक सब है   प्रस्तुत भी सेवक अब है।
किन्तु, वहाँ अपना जाना   मैंने, महा कठिन माना।
द्वारों-पर सब ठौर खड़े   होंगे द्वाराधीश बड़े।
दमयन्ती के निकट कहीं,   जाने दें वे मुझे नहीं।
पहुँच न जब मैं पाऊँगा,   क्या सन्देश सुनाऊँगा।
अत उपाय सुझाओ तुम   मुझे वहाँ पहुँचाओ तुम।
सुनकर निर्जर सभी हँसे   जैसे मत्त-करि-पंक फँसे।
हो स्मित-वदन शक्र बोले—   ओ नलराज मित्र भोले!
अरे! बात यह है कितनी   देख शक्ति क्या-बस इतनी।
मन्त्र प्रभावित-मति वाली   यह मुद्रिका चमत्काली।
इसे पहन तन पर मित्र!   हो जाओगे परम-विचित्र।
वहाँ दृष्टि आ सको नहीं   देख न कोई सके कहीं।
इसीलिए तुम इसे पहन—   सन्देशा यह करो वहन।
केवल दौत्य करायगी,   फिर निष्फल हो जायेगी।
कहकर यों अति मृदु स्वर में,   दी मुद्रिका नृपति-कर-में।
अब वे भीम नृपति भोले   तब यों-वचन मगन बोले—
मान मन्त्रणा मेरी तुम   करो न सम्प्रति देरी तुम।
दिव्य-गुणों के आकर तुम,   हो 'शशि-यश-दिवाकर' तुम।
अरे! पूर्ण निज वचन करो,   दिग्पालों-का ताप हरो।
सुयश तुम्हारा विस्तृत-हो   आपका पूर्ण-अभीप्सित हो।
पुण्य तुम्हारे बहुत बड़े   शक्र तथा सुर निकट खड़े।
यह शुभ-अवसर तुम्हें मिला,   जाओ मित्र! सुनेन्दु-खिला—

'अरे यशोधन अग्रगणी ! तुम हो विश्रुत धर्म-धनी ।
पर-हित-रत सब कुछ जिनका, अब आभारी उस ऋण-का ।
उस सुधांशु के वंशज-हो पर-हितकर के अग्रज-हो ।
अत ठीक ही करते हो, जो सन्देशा हरते हो ।
जाओ मित्र शीघ्र जाओ, पुष्पाकीर्ण मार्ग पाओ ।
चुप हो वरुण देव जब तक दुर्दम-यम बोल-उठा तब ।
हाँ-हाँ जाओ मित्र अभी पूर्ण करो यह काम सभी ।
शूर यही तो करते हैं कहकर नहीं मुकरते हैं ।
तुम जैसों-से ही सूतम— जग में पाता है सम्यम ।
प्रभु ने जो कुछ हमें दिया उससे पर-हित यदि न किया ।
तो इस भाँति अनर्थ भरे— जीवन हैं सब व्यर्थ धरे !
फिर, किसको 'देवेश' कहीं— देते यों आदेश नहीं !
करना सुर उपकार मिले भव-सागर का पार मिले ।
दौत्य-कार्य यह करने-पर, सुर सन्देशा हरने पर ।
जग में नाम कमाओगे मुँह-माँगा वर पाओगे ।
फिर सब सुर "हाँ-हाँ" बोले अमर विबुध भूपति भोले—
हुए समुद्यत आने को वचन पूर्ण-कर आने को ।
धरी मुद्रिका निज-पट-में छिपी-सुधा मानों घट-में ।
मन-में थे उद्विग्न हुए, सुर-पद-नत हो भिन्न-हुए ।
बैठ शतक्रतु के रथ-में वायु समान चले पथ-में ।
मन में भाव विविध जागे ईश्वर ! क्या-होगा आगे—
भैमी क्या-न मिले मुझको विघ्न ! मिला मैं ही तुझको !
आजा मृत्यु ! तुही आजा आ चिर शान्ति ! मुझे पाजा ।
अरी नियति ! मत मुझे सता निहत-हृदय ! अब तुही बता !
भीम-सुता के पहुँच निकट मैं दूँगा जब दूत विकट ।
तब भी माय रहेगा तू, वह दुःसह्य सहेगा तू !
तुझे धैर्य धरना ही है वचन पूर्ण करना ही है ।
काम न रह जाय अधभर फिर तू फट जाना सत्वर ।

पृथ्वी माँ ही सुध लेगी मुझको विवश जगह देगी।
हाँ, पर इसी बहाने से कुण्डिनपुर में आने से।
प्रिय दर्शन हो जायेंगे नेत्र सफलता पायेंगे।
धरा-धाम का सार तभी क्षण-भर तो मिल जाय सभी।
यदपि सुरों ने मुझे छला फिर भी जीवन धन्य! भला।
वचन पूर्ण कर हर्ष इधर और प्रिया का दर्श उधर।
हे यम! तुम आकर उस क्षण- करना मेरा आलिङ्गन।
हृदय भाव रथ चक्र भले लगा होड़ सी तीव्र चले।
भारी था राजा का मन पर वह भी था सुर-स्यन्दन।
तुरगों में वह सु-गति जगी, जीत उसी के हाथ लगी।
अब सम्मुख कुण्डिनपुर था धक धक करता नृप उर था।

नगर से बाहर जगह विलोक
लिया मातलि ने रथ को रोक।
उतर कर पैदल ही नरनाह—
चले नृप भीम सदन की राह।

षष्ठ सर्ग

कहीं गाना होता सन्दुख-जन भी हैं तड़पते
किसी को देते हैं सुख, अपर-का वे हड़पते।
हुआ-जाता यों-ही नियति-नटि का नाट्य-जग है,
वही हैं अभ्यार्हा पर-हित-लगे जो सजग हैं।

विपरीत हृदय अभिलाषा के झोंके में बढ़ निराशा के।
मुद्रिका पहन अपने कर में घन घिरा इन्दु ज्यों अम्बर-में।
उस भाँति अदृष्ट नरेश महा वन दवदूत निषधेश वहाँ।
भैमी दर्शन हों यों भ्रम न पर मिले न वह इसलिए खिन्न।
यों सुख दुख के मध्यस्थ चले मन-में विचार थे बुरे भले।
जन उन्हें न कोई देख सका प्रतिबिम्ब भी न था ऐसा सका।
सज-धज विलोक कुण्डिनपुर-में कुछ नृप बढ़ा नृपति-उर-में।
सज्जा में पुर जन लगे हुए निष्पाप शोक दुख भगे हुए।
पुर शोभा से दृग छक नहीं पर श्रम से भी नृप थक नहीं।
आ पहुँचा भवन भीम-का अब मणि-खस द्वारेश खड़े थे सब।
पक्षी तक जब न वहाँ जाता फिर जन प्रवेश कैसे पाता।
थे घुस भूप अस्पष्ट होकर धारणा की मति का खोकर।
ज्यों विविध वैद्य बुध बैठे हों रुग्णोपचार में पैठे हों।
पर फिर भी प्राण निकल जाता उनकी न दृष्टि तक में आता।
द्वारों पर नाग खड़े आगे थे निर्भय हुए चल आगे।
अन्तःपुर में यों भूप चले मन-में स्मृति के ज्यों स्तूप बसे।
थे वहाँ भीम विश्वासी जन वे आस जात थे दास दास।
अपने कृत्यों में हुआ मगन— अविरोध यहाँ था दासी गण।

थी गूँज रही कोई माया । कुछ गाथा से गाती छाया ।
वह वातावरण विनोद-भरा । लगती थी स्वर्ग-समान-धरा ।
ये इधर लिये कुछ थाली हैं । कुछ उधर लिये ये जाती हैं ।
रमणी कुछ मद में झूम रहीं । सुरसनी उधर थ घूम रहीं ।
था हुआ अखाड़ा परियों का । वह अन्तःपुर, नृप-नारियों का ।
नख सब सजाग चले जाते । तिल-मात्र परस-भय थम पाते ।
कमरा पर कमरे आते थे । बरबस नृप दृष्टि घुमाते थे ।
आया अली का कक्ष तभी । कुछ धड़क-उठा नृप-वक्ष तभी ।
द्वाराङ्कित था गायन शाला । थी द्वार-पालिका भी बाला ।
नृप ने तब देखा कक्ष वहीं । था-चिपक-सा नृप-पक्षि वहीं ।
फिर करके अपना उर वलिष्ठ, हो गये कक्ष-में नृप प्रविष्ट ।

'मानों मन सहसा छला गया । कोकिल-होकर प्रिय धसा-गया ।
मुट-गया किसी का सब सहसा । पुपुत मिला भय दुस्सहसा ।
निज गण्ड हथेली पर देकर । आहों-के मिस सांसें लेकर ।
पर्यङ्कासन मैली विमना— दखी ज्यों नभ में इन्दुकला ।
थी-यद्यपि मलिन-सी वदन प्रभा । कुछ-कुछ निकली थी रत्न प्रभा ।
दृग आकर्षित करती फिर भी । सुन्दरियों-में वर थी फिर भी ।
वीणा नीरव सी पास पड़ी, लगती वह स्वयं उदास बड़ी ।
नृप यह सब देख ठगे-से थे, चित्राङ्कित-से न जगे से थे ।
पल भर वह मधुर-कान्ति दखी । विभ्रम ने वहाँ शान्ति दखी ।
कच थे कन्धों पर पड़े हुए, मुक्ता उनमें थे जड़े हुए ।
मानों, मणि-मुक्त की रक्षा-ज्यों करती उरगों की कला हों ।
माथे-पर बेनी लटक रही । मुद्रिका पाणि में चमक रही ।
पीयूष कनक पट-में जैसे । सौन्दर्य भरण पट में वैसे ।
आंखों पर पलकें पड़ी महा । कजरारी थीं वे बड़ी महा ।
थी मुस्काना मृदु नेत्र गिरे । का छिपना माँ-प्रासाद मिस ।

आयीं सखियाँ उस ठौर तभी बैठी उसके चहुँ ओर सभी ।
उनसे आवृत भैमी थी यों पत्रों-से पुष्प घिरा हो ज्यों ।
अब थी न उसे उनसे व्रीड़ा थी विदित उन्हें भैमी पीड़ा ।
शोभित सा भैमी का रहना सपनों में निषध-नाथ कहना—
सब सुविदित था यह सखियों-को उन-हृदय-दर्शिनी अँखियों-को ।
वे भैमी को समझाती थीं गुण निषध नाथ के गाती थीं ।
कुछ धीरज तब उसको आता पर शीघ्र हवा-सा उड़ जाता ।
अब सोच निमग्ना देख उसे मुकुलित-कलिका सी रेख उसे ।
कर पकड़ केशिनी यों बोली— सखि! हाय स्वस्थता सब खोली ।
समुचित है क्या-यह तुम्हें कहो सँभलो सँभलो यह ठीक नहीं ।
मत यों अपने मन को मारो है देर न कुछ धीरज धारो ।
क्या पूर्ण तपस्या है न अरी! समझो तट पर आ-गई तरी ।
इसलिए! उठो बैठो आओ घूमो बोलो खाओ गाओ ।
इस भाँति पड़ी पछताओगी माँ समझे छिपा न पाओगी ।
दमयन्ती बोली—अरी सखी! क्या स्वयं दशा यह मैंने की ।
मैं समझ न कुछ भी पाती हूँ क्यों दिन दिन घुलती जाती-हूँ ।
कुछ आग हृदय में लगती है जिससे तन ज्वाला जगती है ।
लगती न भूख मिठा भाती धड़ धड़ करती रहती छाती ।
मैं तट पर जाने के हित ही करती न यत्न क्या नित नित-ही ।
पर ज्यों-ही कुछ तट-पर आती त्यों-निज-को मझधार-में पाती ।
लगता कुछ मन्द प्रभाव मुझे, भुगतकर न सुखद प्रस्ताव-मुझे ।
है अनल हृदय में लगी हुई उपवन घर-बाहर लगी हुई ।
हा इसी अवशता से मुझको सखि! घोर विवशता ने मुझको ।
अब हाय! बनाया ऐसा है मन अरी! न जाने कैसा है ।
जिसको माँ रोग समझती है कर-कर के औषध धरती है ।
मस्तिष्क! भ्रम यह कुछ और बला जिसने अबला को हाय! छला ।
यह शान्त न हुई अनमना जो तो क्या-जाने आली क्या हो ।"

"हम सभी सरोवर जाती हैं बहु-खिले, कमल ले आती हैं।
तुम लगा उन्हें उर से लेना यों-शान्त मनमता कर देना।
यों कहकर वे सब जाने को प्रस्तुत थीं नीरज लाने को।
'ये सब जायें तुम यहीं रहो केशिनि ! बैठो कुछ बात कहो।'
दमयन्ती ने यों बात कही सब गईं, केशिनी रही वहीं।
वह लगी विनोद विविध करने भैमी का मनस्ताप हरने।
बातों के बीच फँसाकर ही छोड़ी भीमजा हँसाकर ही।
दुखिनी को पाकर खड़े खड़े नल स्वयं विज्ञापित हुए बड़े।
मन हुआ, विकल ऊसा ऊसा सन्देश उन्हें सारा भूला।
'हा-हा इस कमल-कली के हित क्या बनूँ तुषार करूँ दुहित।
पर, ऐसा मुझसे हो न सके क्या-बीच न यह जड़ बने-थके।
यह प्रेमानल में जलती है, सहचरियों को यों-छलती है।
है कितनी मीठी सी भोली किस-भाँति चतुर, छल से बोली।
मेरी अप्राप्ति, मनमता यह प्रस्ताव हृदय-को खलता यह।
यह अबला होकर भी इतनी, दृढ़ है अपने पथ-पर कितनी।
हूँ मैं भी इतना तप्त कहाँ देखा जब जितना इसे यहाँ।
ओ कुटिल-देव-से प्रेरित-मन ! तू क्यों बैठा-जाता इस क्षण।
सुर सन्देशा कहना-ही है निज-वचन पूर्ण करना-ही है।
होगा वा मूक भला मेरा वश किन्तु, न तनिक चला मेरा।
अब कहना यह इससे होगा, देवों का हित-जिससे होगा।
"हे भैमि ! वरो तुम देवों को स्वीकार करो उन देवों को।"
पर, इसका भी तो हित इससे यह नरी बने देवी जिससे।
यह सुनकर सन्देशा इसको मैं स्वयं प्रेम करता जिसको।
यदि दिया न तो क्या-प्रेम रहा जिसमें प्रेमी - का क्षेम बहा।
अब स्वर्ग - लाभ होगा इसका यह मिलता यों-संदेह किसको।
तब मुझको भी ध्रुवो सुख होगा, हाँ-स्वयं सहूँ जो दुख होगा।
सचमुच देवों के योग्य यही, पार्थिव नर-का यह योग्य नहीं।
फिर, स्वयं चाहते देव जिसे ! अब देवी होना उचित इसे।

सम्मुख नारद ने ठीक कहा महि है जग में सुन्दरी-महा।
पर उनका वह आशीस अभी होने-को चला असत्य सभी।
विधि-के आगे क्या-वश चलता दुर्भाग्य ! हाय सबको छलता।
मम वचन पूर्ण यह देवी हो सुरपति-की युग-पद-सेवी हो।
दोनों प्रकार मेरा हित है, तब मुख-निवेदन समुचित है।
यों-साथ मीमजा हास्य सग नृप हुए मुद्रिका-भूय मग्न।

कोणस्थ पुरुष सहसा देखा मुँह पर दौड़ी भय-की रेखा।
जो माड़ी खिसकी पड़ी हुई सिर-पर वह उस-ही घड़ी हुई।
सहसा-धीरज एकत्रित कर— निजमन-में अतुलित-साहस भर।
मुस्वरता मिस-कर क्षमा-उसे बोली दमयन्ती रमा उसे।
'तुम कौन ! यहाँ आये कैसे ! तस्कर की-भाँति छद्म ऐसे।
क्या द्वारेशों ने तुम्हें कहीं आने से रोका यहाँ नहीं।
किस साहस-पर पद यहाँ-दिया कितना गुरुतर अपराध किया।
कुल-नाम बता कर अभी अभी जाओ बस-है अब-शाम-सभी।
रक्षक अन्यथा अभी आयें वे तुम्हें पकड़कर ले जायें।
राजाज्ञा से मारे-जाओ भागो सत्वर, नृप भय-लाओ।"
'हे सुमुखि ! भय न मन-में मानों तस्कर-दुर्जन न मुझे जानो।
मैंने प्रवेश जो यहाँ किया अपराध-कार्य यह महा-किया।
अनिवार्य-कार्य-वश ही मैंने हे सुन्दरि ! त्रुटि यह की मैंने।
चल-दूंगा सन्देशा देकर— दर्वों-की तरणी को ले तर।
पर भीति किसी की मुझे नहीं हे दयि ! विदय में आज नहीं।
विबुधों-का अनवर दूत-यहाँ— आया जन आ-सकता न जहाँ।
कोई भी मुझे न देख-सके प्रतिबिम्ब न मेरा लख-सके।
फिर पकड़ेगा, कोई कैसे ! हम देव दूत देवो जैसे।
मैं द्वार-द्वार पर होकर-ही— आया जन रक्षक-विलोक नहीं।
मैं सभी ठौर-जा-सकता हूँ, पर, दृष्टि-में न आ-सकता हूँ।

देखो यदि हा विश्वास नहीं　सहसा नृप हुए अदृश्य-वहीं ।
पल-भर में ही फिर दीख-पड़े　उस कोने में वे वहीं-खड़े ।
बोले—इसलिए, न भय मानो　मेरे हित शङ्का-भय-जानो ।
चित्रित-सी जिनकी अँखियाँ थीं　विस्मित-सी दोनों सखियाँ थीं ।
है शक्ति अनन्त-देव-गण की　धारणा स-भूत हुई मन-की ।
'अच्छा लो, सुनो सुनाता-हूँ　फिर शीघ्र यहाँ-से जाता-हूँ ।
देवेन्द्र वरुण यम अग्नि तथा　जग-विश्रुत जिनकी कीर्ति-कथा ।
मैं दूत उन्हीं-का देवी हूँ　उन पूत-पदों-का सेवी हूँ ।
हैं देवि ! तुम्हारे प्रेमी वे　तीनों-लोकों-के क्षेमी-वे ।
तुमसे विवाह करना चाहें　कर स्मरण तुम्हें भरते आहें ।
अब आया-निकट स्वयम्वर-है　जिसमें तुमको चुनना वर है ।
जिसको तुम चाहो अत उसे　पर उन चारों देवों-में से—
वर-लेना वर-माला देकर　हे तन्वि ! वृत्त यह ही लेकर ।
मुझको सुरपति-ने भेजा-है　अमोघित पत्र सहेजा-है ।
देने-में यह सम्वाद शुभे !　मुझको है हर्ष अगाध शुभे !
ऋषि-मुनि जन्मा-जन्मों ही में—　रत रहते शुभ कर्मों-ही में ।
तब कहीं स्वर्ग-में आ पाते　हों पुण्य-क्षीण तो, फिर आते ।
यह अवसर विना प्रयास तुम्हें　देने आया सुर-दास तुम्हें ।
क्या भाग्य तुम्हारा धन्य नहीं　है भाग न तुमसी अन्य-कहीं ।
देवी-निष्कलङ्क अनोखी तुम　सुत देवमयक-अनोखी तुम ।
उन देवों-के गुण को गाना　है रवि-का दीपक दिखलाना ।
विदुषी-हो है पहचान-तुम्हें,　हित अनहित-का है ज्ञान तुम्हें ।
वे-इन्द्र सुरों-के शासक-हैं　उनके सब लोक उपासक-हैं ।
उन देवराज-को छोड़ नहीं　कर-सका अन्य शत-यज्ञ नहीं ।
राक्षस अनेक हो गए बली,　पर, एक न शक्र-समक्ष चली ।
सब दुष्ट मही-से क्षीण किये　गिरि-तक भी पक्ष-विहीन-किये ।
रण-विद्या उन्होंने जीती-है　सब पूर्ण शक्र-मनचीती-है ।
यज्ञों-में भाग निकलता है　पहले उनको ही मिलता-है ।

करतीं सुर-धेनु निवास महाँ है कल्प-वृक्ष-सा वास वहाँ।
क्षण-में इच्छा पूरीं होती सुख,तनिक न आधि व्याधि सोतीं।
तुम उनको वर-माला देना सुख-स्वर्ग सदेह सुमुखि ! लेना।
हैं शाक्र वसी सुन्दर मानी तुम बनना उनकी पटरानी।
अप्सरा किन्नरी और दासी मानों तेरी सेवार्थ रची।
आदेश तुम्हारा-पालने-में हाँ-नहीं तनिक भी टालें-मैं।
सुर-पति के कर-में कर होगा अधिकार दिशाओं-पर होगा।
देवाश्व-सवारी-के हित वह हो हुक्म हय नित नित ही मह।
प्राणों-से भी सविशेष तुम्हें— रक्खें हे सु-मुखि ! सुरेश तुम्हें।
इसलिए, न यह अवसर छोड़ो मत स्वर्ग-सुखों-से मुँह-मोड़ो।
है समय न धोखा खा-जाना फिर पड़ सदा ही पछताना।
नभ-सरि में स्नान किया करना नन्दन-में गान किया करना।
देवामृत पान किया-करना मुँह-माँगा दान किया करना।
नभ-भूमि अचल या जल-थल मे पहुँचो इच्छा-ही से पल-में।
करना सर्वत्र विहार महा पाना सुरपति का प्यार महा।
दुःसके न कोई शोक तुम्हें हों प्राप्त स्वस्त सब-लोक-तुम्हें।
सब सुर इस मुख-को ताकेंगे कितना न मूल्य-वे आँकेंगे।
यह अवसर मिला किसे ! कब कब ! मिल-रहा सुमुखि ! जो तुमको अब।
हैं अन्य वरुण पाशधारी स्थित है जिनपर जगती सारी।
कल्याण जगत का होता है दुष्काल उन्हीं से जाता है।
यह सिन्धु महा वरुणालय है संसृति-हित जो करुणालय है।
मणि-मुक्ता हीरक लाल जहाँ जग पाता है धन माल वहाँ।
तुम पकड़ वरुण का कर' कर-में करना बस केलि उमी घर-में।
श्री ने भी हरि को ग्रहण किया वरुणालय-में ही रमण किया।
श्री स्वयं वहीं से हैं निकलीं श्री सुधा-सुरों को वहीं मिली।
सब देव वरुण के आभारी पूजे उनको जगती सारी।
चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई अब भी पर, नहीं समाप्ति हुई।
कितने हैं रत्न वहाँ अब भी होंगे वे करगत तुम्हें सभी।

काटे गिरिपक्ष इन्द्र ने जब थी शरण वरुण में उनको तब।
अपने घर उन्हें छिपाया था, कुछ भय न शक्र-से खाया था।
पाशी से निज को समझ अवश कुछ चला था न मघवा का वश।
अब वरुण शरणागत गिरि होकर बसते हैं वहीं भीति-खोकर।
पाशी के यशोगीत गाते सुरपति से कुछ न भीति पाते
इसलिए शक्र बल को भी कम कर गया वरुण-का ही विक्रम।
उस पराक्रमी की होकर तुम पी सुधा दुखों को खोकर तुम।
जलदस्थित भ्रमण रमण करना जग वन्द्या बन जगभय हरना।
हैं अग्नि परम तेजोधारी जिनसे जगती कम्पित सारी।
उनसे सब देवों-को सुख है इन्द्रादिक का वह ही मुख है।
सब देवों के अवलम्ब वही इस सकल विश्व का स्तम्भ वही।
हाँ सदा ऊर्ध्वमुख भला कहीं— जगमध्य अनल को छोड़ नहीं।
जग उनका वन्दन करता है सुरगण अभिनन्दन करता है।
वे अनलदेव सब कुछ खाते इसलिये सर्वभुक कहलाते।
यदि रुष्ट किसी से वे होते अणु अणु उस का जग-से खोते।
उनके ऋषि मुनि सब हैं स्नेही उनको नित नित पूजें गेही।
कोई भी तो संस्कार कहीं, हो पाता उनके बिना नहीं।
उनसे हैं स्वयं वरुण डरते जब अनल स्वनेत्र अरुण करते।
बड़वानल रूप बनाते हैं, तब वरुणदेव कँप जाते हैं।
कोई भी बचा न सकता है बस अचल अनल से थकता है।
हैं अत वरुण से बढ़कर वे, बल रूप गुणों में चढ़ कर वे।
भिक्षुक वे आज तुम्हारे हैं, निज सब कुछ तुम पर वारे हैं।
चाहो यदि तुम तो वरो उन्हें, भैमी ! निज प्रियतम करो उन्हें।
सुन्दरि ! उनसे अति हित होगा जग में पूजन नित-नित होगा।
ऐसा न मिलेगा स्वर्ण-योग नर को न सुलभ है देव भोग।
इसलिये वरण उनको करना हाँ सम्मानित गुण को करना।
वे चौथे निर्जर दुर्दम यम, हैं जो न किसी भी सुर से कम।
वे सब का न्याय चुकाते हैं, यों धर्मराज कहलाते हैं।

हैं सब से अधिक प्रचण्ड यही देते दण्डयों को दण्ड यही।
उनसे कोई भी जीत कहीं हे कमलदृगी! बच सके नहीं।
वे जिसको भी हरना चाहें जिसको गतासु करना चाहें।
उसको न बचा कोई सकता उनसे सब देव वर्ग थकता।
उनका है ऊँचा स्थान सदा वे पाते सब से मान सदा।
उनको सहयोगी बना बना देवों ने दुष्ट-समूह हना।
वे नित नित परिवर्तन करते मस्तक बनकर नर्तन करते।
सब धनी गुणी मानी ध्यानी हों दुष्ट दनुज या कल्याणी।
उनके समीप सब जाते हैं निज करनी का फल पाते हैं।
वे रखते हैं सब का लेखा गणितज्ञ न है उनसा-देखा।
कोकिलकण्ठी! यदि उन्हें वरो, तो निज मन प्रिय जन अमर करो।
जिसको चाहो वह मरे-नहीं तुम से हो कुछ भी परे-नहीं।
है एक एक से अभी गुणी सुन्दर, यश वाला धर्म-धुनी।
अब सोच-समझ कर बतलाओ लज्जा न तनिक इसमें लाओ।
बतलाओ देवि! वरो किसको है कौन ललाम करो जिसको।
क्या नाम विबुध का है उसका तुमने संकल्प किया जिसका।
मुझको यह उत्तर लेना है जाकर देवों-को देना है।
मेरा तो है सुविचार यही मन भी कहता हर बार यही।
तुम सुरपति को ही वर लेना उनके ही कर में कर देना।
या जिसकी इच्छा उसे वरो स्वेच्छा-से एक पसन्द करो।'
'कुछ कहन की अभिलाषा थी हो जाती किन्तु निराशा थी।
कहने का समय न पाती थी कहती-कहती रह जाती थी।
पर, जरा काल में अनुमापन सुन-हुए अमरसेवक जिस क्षण।
बोली भैमी स्मित-सी हो यों खिसकीं हों नव अभिलाषायें ज्यों।
हे दूत! चतुर तुम जान पड़े सुर विषयक तुमको मान बड़े।
फिर भी विस्मय! तुम क्यों ऐसे— बोल हो विक्षिप्तों - जैसे।
मैंने तुमसे क्या प्रश्न किया, तुमने उत्तर किस भाँति दिया।
मैंने पूछा तुम नाम कहा तुमने यह नहीं विदित कथा।

पद-में आघात आँख फूटी यह वही कहावत अब झूठी—
परिहास न क्या तुमने की है फिर भी कहना सुन्दर-ही है।
क्यों नाम न अपना कहते हो किस जनपद-में तुम रहते-हो।
किस कुल को तुमने धन्य-किया किस माँ-को भद्र ! अनन्य किया।
अवलोक तुम्हारी सुन्दरता है यह देवत्व नहीं नरता।
पर बस विश्वास यही होता तुम-सा तो दास नहीं होता।
हे भद्र ? मुझे है खेद यही, क्यों विदित सुरों-को भेद नहीं।
मैं निशि दिन उन्हें सुमरती हूँ, नित-नित-ही अर्चन करती हूँ।
किस लिये ? न है क्या ज्ञान उन्हें भक्तों की नहि पहिचान उन्हें।
भेजा फिर भी यों सन्देशा, भेजा न कहीं पहिले जैसा।
तुम कहते हो मेरा ही हित कहना पड़ता पर खेद सहित।
हित भी न मुझे यह स्वीकृत है क्या-करूँ विवश यह ही व्रत है।
पर चुकी स्वयंवर बीत गया, अब तो यह लगता गीत नया।
कार्यान्वित करना शेष रहा, सन्देह न इसमें लेश रहा।
या समय वही पूरा होगा या इस तन का चूरा-होगा।
कहते कहते लज्जा आई, अरुणिमा कपोलों पर छाई।'
'है भद्रा कौन परिचय मेरा मैं - दूत देव पद का चेरा।
बिन पूछे भेद बताना ही या बिना बुलाये जाना ही।
होता दूतों का काम यही, इसलिये धृष्टता मैंने की।
जिनका तुम पूजन करती हो जिनको दिन रात सुमरती हो।
वे हैं प्रसन्न वर देते हैं, जो स्वयं तुम्हें वर लेते हैं।
वर बनकर स्वयं उपस्थित है करते न तुम्हारा क्या हित हैं।
इससे भी अति फल पूजा का तुम कहो सुमुखि ! यह दूजा क्या।
जिसको वर लिया कहाँ वर है, वह कोई सुर अथवा नर है।
होता विस्मय सचमुच मुझको, यह भेद बताओ सब मुझको।'
"हे दूत निषध के स्वामी - वे हैं गुणियों के अनुगामी वे।
उनका भैमी ने वरण किया, मन ने उनका मन हरण-किया।
संकल्प किया उनका इसने यह मान किया गुण का इसने।

जब भैमी लज्जित-सी देखी कर्तव्य निमज्जित सी देखी।
तब नृप से धृत वेशिनी ने यों-कहा सुमञ्जु वेशिनी ने।
सुनकर सुरदूत हँसे कैसे खिल गया इन्दु नभ में जैसे।
रदनों की कान्ति फूट निकली बोले-फिर नृप यों-गिरा भली।
यदि सोच समझ तुम बोली हो तो सचमुच कितनी भोली हो।
दिग्पाल कहाँ नल भूप कहाँ! सुरसरी कहाँ जल-कूप कहाँ।
वर लिया अगर तुमने नल है तो किया न क्या निज-से छल है।
यह तो सोचो नल है कितना! उन सुरों के न दासों जितना।
फिर वरण मानसिक भला कहीं रखता सत्ता कुछ, नहीं! नहीं!
यह तुल्य न कर्म तुम्हारा है शोभन न सुतन्वि! विचारा है।
इसलिये अशोभन पन्थ तजो! नल को तजकर दिग्पाल भजो!
यदि निषध नाथ पर सुमन चला हो गया अहित तो कौन भला!
कार्यान्वित करने से पहिले सबको ही विविध विचार भले—
होते रहते हैं सभी कहीं पर, होते वे सब सफल नहीं।
सुर सम्मुख नल नृप को वरना है क्या-न मूर्खता का करना।
नल सम्मुख स्वर्ग छोड़ना है तो काँटों बीच दौड़ना है।
इसलिये बताओ धैर्य धरो किस लोक पाल को वरण करो।
यह कहकर नृप चुप हुए तभी पर थी सुस्थिर दमयन्ती भी।
सह सकी न यह नृप की बोली— कर क्षिप्त मत लज्जा खोली।'
'बोली—हे दूत! अहा-तुमने, क्या-यह न अपूर्व कहा तुमने।
मनका क्या कुछ संकल्प नहीं उसमें बढ़कर क्या वचन कहीं।
जिसको सर्वस्व सौंपना है, निज मन में जिसे रोपना है।
क्या वे-नित नित बदले जाते नित नव हृदय-में ठौर पाते।
दवानल-सी क्या तृप्ति कहीं बढ़ती जाती है नित-नित ही।
आर्याओं का यह कर्म नहीं संकल्प छोड़ना धर्म नहीं।
वर चुकी जिसे वे एक बार, जीवन भर उसको करें प्यार।
यदि उनका भी संकल्प बहा तो क्या आर्यत्व विशेष रहा।
सुर स्वर्ग न मुझको लुभा सकें आवें देने वे सभी थकें।

मैं मोद मान-भर सकती हूँ प्रण भग न पर कर सकती हूँ।
देकर तन मन धन-रूप-मूल्य पूजा देवों को पिता-तुल्य।
वे वर न मुझे क्या त्यों देते सब पिता सुता-हित ज्यों देते।
उनसे है आशा मुझे यही मैं कभी वरूँगी उन्हें नहीं।
"सोचो भैमी शीतल मन से मुँह मोड़ रही कैसे धन से।
देवों को असन्तुष्ट करना है यह ही जीते जी मरना।
उनकी इच्छा विपरीत कहीं तुम वर पाओगी कभी नहीं।
वे सबल तुम्हें हर सकते हैं, या-और विघ्न कर सकते हैं।
मरना भी उनके बिना कहीं होता जीवों को प्राप्त नहीं।
मर कर भी क्या बच पाओगी सोचो कैसे मर पाओगी।
हाँ—अन्तरिक्ष में कहो कभी तुम क्या-न रहोगी मर कर भी।
तुम क्या-सब जीव घूमते हैं, कुछ ऐसा वहीं भूमते हैं।
उसके स्वामी वे सुरपति हैं, बच कहीं न सब उनसे गति हैं।
यदि मरो सलिल में डूब कहीं तो क्या न वरुण-की शरण-वही।
यदि मरो जलाकर निज तनको तब सुध ही अनल-समर्पण हो।
मरने पर न्याय चुकायेंगे यम क्या न तभी अपनायेंगे।
आनाकानी सब एक कहीं हे इन्दुमुखी! वे तुमें नहीं।
इसलिये भला है इसमें ही कल्याण छिपा यो जिसमें ही।
देवों का ही तुम प्यार करो अब कहो किसे स्वीकार करो"
"दिखला कर व्यर्थ प्रलोभन यों करते हैं आप प्रलोभन क्यों।
यह भीति व्यर्थ दिखलाना है, वह हठ है, जो मन माना है।
इन्द्राणी बनना कभी कहीं करती मैं तनिक पसन्द नहीं।
हे दूत! स्वर्ग भी बन्धन है, जब एक अवस्था-में जन है।
है सुलभ यहाँ सुख भोग सदा यह कर्म प्रवृत्ति कहाँ बरदा!
प्रियतर है यह ही लोक हमें मिलते युग सुख या शोक हमें।
उपभोग न कुछ करके दुख का है भला मूल्य ही क्या सुख का।
नर-सुलभ, मोक्ष का अवसर है, क्या श्रेष्ठ न फिर सुर से नर है।
यों भला स्वर्ग में धर्म कहाँ इस लोक तुल्य है कर्म कहाँ।

है तन-का लाभ कम करना देता है स्वर्ग धर्म करना ।
यज्ञ से देव तुष्ट होते इस विध सब अन्य पुष्ट होते ।
फिर निर्दोषी को कभी कहीं दण्डित करते सुर-सौम्य नहीं ।
कर विविध सु-कर्म स्वर्ग-जाना है रोक न सकते सुर माना ।
कर चुकी वरण जिसका मन-में निष्फल है मन उस ही मन-में ।
इसलिए स्व-परिचय सब देकर, मेरा सन्देश नम्र लेकर—
सुर-गण को प्रणति-सहित देना है विनत क्षमा दिलवा-देना ।
पाण्डित्य पूर्ण उत्तर सुनकर उसको मन-ही-मन में गुनकर ।
सहसा नृप हुए प्रसन्न बड़े बोले-पर फिर भी खड़े खड़े ।
हे भैमि ! सुरों के आगे वे सोचो निषधप अभागे वे ।
कैसे तुमको वर सकते हैं, सुर मन-को हो हर सकते हैं ।
नल नर है यश है ही कितना सुर-वैर करे क्या-उस जितना ।
इसलिए कार्य सविवेक करो अब कहो भीमजे ! किसे वरो ।
यों-दूत गिरा सुनकर भैमी सब समझ उसे सहसा सहमी ।
बोली साहस एकत्रित कर हे दूत ! सभा-जगती-में नर—
सतियों की सम महत्ता-को उस देव-दुर्लभा सत्ता को—
क्या जानेंगे कितनी है वह हम खुद जानें जितनी है वह ।
क्या एक-स्वर्ग ! त्रिभुवन का सुख कर सके न हमको धर्म-विमुख ।
तुम ध्यान न यह कुछ करते हो इसलिए दुराग्रह करते हो ।
सुन भाखूँ होकर धर्मभ्रष्ट उससे पहले हो यह नष्ट ।
भावी कब टाली टली कहीं कब जग की इच्छा फली कहीं ।
मैं मुदित दुःखों को झेलूँगी सौ सौ शापों-से खेलूँगी ।
आमरण यातना सह-सहूँ मैं क्या न नरक में सदा रहूँ ।
व्रत भंग न पर कर सकती हूँ अब अन्य को न वर सकती हूँ ।
कहते कहते रो पड़ी आह सँभला न वेदना का प्रवाह ।
हिचकी बँध-गई दृगों-में जल भर-गया कि,हा ज्यों सजल-कमल ।
मूर्च्छा का वेग बढ़ा सहसा नृप को भी दुख था दुस्सहसा ।
कामिनी दगधकर हुई भस्म थी धीरज धर उपचार-व्यस्त ।

उपचार रंग अपना लाया कुछ उसे होश में ले आया।
थी पूर्ण सजगता कहाँ अभी कुछ नेत्र खोलती कभी-कभी।
हा-निषधनाथ इतना कहकर, चुप हो जाती दुख-में बहकर।
बोली-केशिनी सखी-उससे ! आ-जायें निषधनाथ जब-भी।
दुख सभी दूर हो जायगे निश्चय ! वे तुमको पायगे।
यह सुन भमी ने दृग-खोले पर रुद्ध-कण्ठ से क्या-बोले !
कुछ देख रही टकटकी लगा नृप-का भी प्रेम प्रवाह जगा।
कस रूप-सुबन्धे हुए तभी विसरायी अपनी दशा-सभी।
अब कहाँ स्वय को रोक सके रमणी दृढ़ प्रण-से अक थके।
बरबस मुख-से यों गिरा हुई भैमी सुनकर अस्थिरा हुई।
'जिसके हित सब कुछ त्यागा है यह सम्मुख वही अभागा है।
मैं निषध देश का स्वामी हूँ मम हूँ कुमार्ग अनुगामी हूँ।
धिग् धिग् है मुझको अरी प्रिय जो कष्ट तुम्हें हैं आज दिये।
पर विवश वचन पालना पड़ा है स्वय मुझे भी शोक बड़ा।
हूँ धन्य ! मुझे तुम जैसी-सा सत्प्रेम मिला जो यह सीखा।
परिचय देना तो था न उचित, पर, यह सब किया तुम्हारे हित।
सब सखियों को विस्मय भी था लज्जा-मिश्रित कुछ भय भी था।
ये वचन सरस रुच दबा-हुए, सुन सब भैमी-मुख हवा हुए।
मुँह-पर आरुण्य उभर आया, आँचल-जिसका, उस-पर छाया।
मानस में अति आनन्द हुआ मह इसी लिए सस्पन्द हुआ।
विस्मित केशिनी सभी बोली— क्यों तुमने ठगी प्रिया-भोली।
कितना छल तुमने किया नहीं, आते ही परिचय दिया नहीं।
तुमने यह पीड़ा क्यों-दी है या-प्रेम परीक्षा-यों की है।
"केशिनी ! नहीं छल किया यहाँ, सुर-सन्देशा ही दिया यहाँ।
मैं भी यों-ही दुख पाता-हूँ पर, गुण भैमी-के गाता-हूँ।
विधि-सदा ठीक ही करते हैं वे ही सबके दुख हरते हैं।
अब जैसा य समुचित जाने, सब करें वही न भीति माने।
सखियों का सुन वासाहस-सा, हो गये नृपति अदृश्य सहसा

आ दिया वृत्त-देवों को तब सुनकर क्षोभित थे निर्जर सब।
समझें-उस का हम उस बेला अब करे हमारी अवहेला।
पर, हो हृष्ट नृप मान किये सबने उनको वरदान किये।

भोगो अक्षय स्वर्ग नृपति-से सुरपति बोले—
सदा सहायक रहूँ अनल-सव वर-मति-बोले।
कहा वरुण ने काम तुम्हारे मैं आऊँगा
करो मुझे जब याद उपस्थित तब पाऊँगा।
बोले-यम हे भूप! तुम्हारे हम आभारी
तुम हो सुदृढ़ प्रतिज्ञ सुरों के भी उपकारी।
पाक-शास्त्र में विज्ञ न कोई होगा तुमसा
कहकर हुए अदृष्ट वहाँ-सब निर्जर सहसा।
सोचती थी भैमी मन में
हुआ यह क्या स क्या-क्षण में।
अहा वे सुन्दर हैं कितने!
और हैं चाकचतुर इतने!

सप्तम सर्ग

(१)

यह निकट कुण्डिन नगर के शुचि-भूमि-पर मण्डप बना
अति-दिव्य-सज्जा-से सुसज्जित दीप्तिमान हुआ-घना।
प्राकार चहुँधा धवल उन्नत सजग प्रहरी सा खड़ा
परिखा-वलय जिसके चतुर्दिक सिन्धु-सा सोया-पड़ा।
अति-मण्डिता-मण्डप-अवनि-के मध्य शुभ्र-वितान था
जिसके सकल सीमान्त-पर, मुक्ता-निकर द्युतिमान था।
हैं उड़-रहे ध्वज गगन-में चहुँ-ओर गौरव-से भरे
मण्डप विशाल न नेत्र-पथ-में छोर आते थे परे।
यह बीच मण्डप-के चँदोवा लग रहा मोहक बड़ा
जो स्वर्ण लतिका आदि से है शिल्प-विज्ञों ने जड़ा
मृदु-कदलियों के द्वार, कैसे भव्य-उन्नत-सिर-खड़े
था, स्वागतार्थ समागतों के हो रहे उत्सुक बड़े।
यह अभ्र-शुभ्र-वितान से मण्डित महा-महिमा-मही—
कुण्डिनपुराधिप के सुयश-का व्योम-पर विलसग रही।
अतिकान्त-मण्डप-मध्य-में थी भव्य-विस्तृत-वेदिका
अभी-स्वयंवर के विभव-की सरस मौन - निवेदिका।
है वेलि-बूटों से रचित शोभा वहाँ छाई हुई
मानों स्वयंवर देखने, लक्ष्मी-स्वयं आई हुई।
उस वेदिका-में स्फटिक-मणि की लग-रही खण्डावली
शरदिन्दु की यह चाँदनी-सी, शोभती कितनी भली।
माणिक्य-मणि बहुमूल्य उसमें ठौर ठौर लगे-हुए,
सित-गगन-के आकाश-में नक्षत्र-तुल्य-जगे-हुए।
सोपान चारों ओर जिन-पर वस्त्र-हैं सुन्दर-बिछे,
उन पर सुनहरी काम के, व वलि बूटे हैं लिखे।

वे स्तम्भ निर्मित-काष्ठ के, चहुँ-ओर सज्जित थे खड़े
सिर-पर टिका मण्डप गगन, तन-पर रँगीले-पट पड़े।
थी चढ़ रहीं उस-पर लता पुष्पादि से थे सज्जिता,
मधु-हास-सा बिखरा-रहीं, सद्गन्ध-प्रेम-निमज्जिता।
बहु गुच्छ पुष्पों-के लटकते, दिव्य-से मण्डप-तले
मुँह वेदिका-में देखने, क्या-स्वर्ग से आते चले।
द्वारेश-गण से युक्त चारों ओर तोरण द्वार हैं
उस ओर सिंह-द्वार पर अभिगीत मंगल-चार हैं।
थे कलश दोनों ओर सिंह-द्वार के जल-से भरे,
हर्षित खड़ी कुछ तरुणियाँ थीं डिभट निज-सिर-पर धरे।
उस द्वार-के शुभ भाल पर था चिन्ह स्वस्तिक का जड़ा
बजते सुखद वादित्र स्वर था हो रहा मादक बड़ा।
मज्जित खड़े सचिव सभी के मध्य सुपठित वेद थे
मुख-मधुरिमा-मद से सभी पर छाहते सु-स्नेह थे।
मण्डप-तले उस वेदिका पर अब शामिल हो रहे
आसीन होने को यहाँ सुर-गण विमोहित-हो रहे।
ऋषि मुनि तथा विद्वत्समागम ध्यान रखकर पूर्व-से
आसन पृथक थे बिछ-रहे बहु-मूल्य मञ्जु अपूर्व-से।
उस ओर है वह स्थान दर्शक-मण्डली के हित-सजा
सुरपति-सभा के तुल्य वह मण्डप सभी समुचित सजा।
थे बज रहे बहु वाद्य द्विजपति साम-गायन कर रहे
गन्धित मनुज उस स्थान को वर-गन्ध से थे भर रहे।
थी जगमगा-सी सज रही वह शिल्पियों की चातुरी
निज सुरस स्वर बिखरा रही बजकर रँगीली बाँसुरी।
इस ओर ध्वनि-संकेत था उस पार वह बाजा-बजा
आने लगे सब मह बताने के लिए फहरी ध्वजा।
होने लगा उस ठौर कोलाहल अतिथि आने लगे
सब लोग अपने योग्य पर आसन वहाँ-पाने लगे।

सुरपति नृपति सब आ गये, सब के मनोहर वेश हैं,
शरदिन्दु से हैं वदन मन-से श्याम-सुन्दर-केश हैं।
झीने-पटों से फूट तन की कान्ति बाहर आ रही
वनिमा-से परिपूर्ण सब पर ही छिपा-सी छा रही।
मण्डप खचाखच भर गया सब देखते अन्योन्य को
यह है न सुन्दर, बस मुझे ही आज मैंमी प्राप्त हो।
ये भाव उन सब के यहीं पर भाग्य-का आश्रय लिये
बैठे सभी चुप-चाप वे निज-ध्यान सज्जा-में दिये।
सुर-वर्ग बैठा है इधर गन्धर्व-गण उस ठौर-है
वह भीड़ कैसी किन्नरों की, छा-गई अति-घोर है।
यम वरुण इन्द्र हुताश भी धर रूप नल-का आ-गये
इस ओर हैं राजन्य-गण उस ओर दर्शक छा-गये।
आगमन अब भी हो रहा है यदपि मण्डप भर रहा
जिसको न माना हो यहाँ ऐसा न कोई नर रहा।
यह अपयायी से तनिक भी, रुद्ध-पथ यदि हो गया
तो समझलो पीछे रुकों-का धैर्य मारा खो-गया।
आतुर बने अविलम्ब वे नव मार्ग निर्मित कर रहे
नद-मुख्य-घर गति तीव्र-सी मण्डप-अम्बधि को भर रहे।
भू-में अमर नर यक्ष किन्नर गगन-में जलधर घिरे—
जग-के तृषाहर भीम-तनया की तृषा उर-में धरे।
ज्या सिन्धु कुम्भज चुलुक में, त्रैलोक्य ज्यों हरि-जठर में
त्यों-ही समाई भीड़ विस्तृत, भीम भूपति नगर-में।
कुण्डिनपुरी के भार ही से, पूर्व पे अतिश्रम - थके,
कर मल्ल घात धत फिर थके इस हेतु मार्ग न आ सके।
हा, हन्त ! तब पावन पवन, होकर स-न्देह न आ-सके
था हृदय-पवन पर, न अपने योग्य वाहन पा - सके।
उनका हरिण मैंमी-नयन छवि-से परम-भयभीत-था,
अब सिंह-सी द्विपता, प्रबल-से, तब हरिण-की क्या-कथा।

मैं हूँ पितामह यह समझ, विधि भी न तब थे आ-सके
दुर्भाग्य-ही समझा, न दर्शन भीमजा के पा-सके।
जो भी अतिथि नृप भीम-से, सविशेष स्वागत-पा-गया,
उत्साह-से भरपूर, आशायुक्त वह देखा-गया।
थी देव माया तब सभी की देव से-ही वेश थे
यों नर अमर का भेद तब, बस जानते अखिलेश थे।
निषधेश सानुज आ-गये, दमकी-स्वयंवर-की-स्थली
थे वन्दि-जन अनुगत रहे गाते-हुए विरुदावली।
पूजित हुए वह भीम-से फिर योग्य आसन मिल-गया
तारावली के मध्य था शरदिन्दु मानो खिल-गया।
सौन्दर्य नल-का देखकर स्तम्भित हुए भूपति-सभी
विधि की सुकृति भी उसी-के हेतु ही मानी सभी।
तब भीमजा के रूप-का ही सब जगह सु प्रसग था
प्रत्येक नृप जिसको श्रवण-कर हो रहा अति दग था।
सहसा विचित्र प्रकार के वादित्र जा फिर से बजे
आशा भरे युवराज-गण सज्जित हुए भी फिर सजे।
बरबस सभी की दृष्टि सिंह-द्वार-पर जा-रुक-गई
ज्यों, कष्ठ प्राणा-तृषित-हरिणी सरित-तट-पर झुक-गई।
जब-रथ आकर रुक-गई उस ओर थी वर-पालकी
उपविष्ट त्रिभुवन-सुन्दरी जिसमें सुता-नरपाल-की।
सखि-वग मे अवलम्ब दे नीचे उतारी भीमजा
मानों, उतारी अवनि पर यह स्वर्ग-से नव-वनजा।
तब पान दिव्य स्वरूप का, नृप-दृष्टियाँ करने लगीं
अमरत्व-फल निज-तृषित-हृदया-में सभी भरने लगीं।
नृप-दृष्टिया के भार-से युग पलक जिसके झुक रहे
निश्वास्त में ज्यों विवश अलि युग पंकजा में रुक रहे।
वह सुमन था भ्रम तक नहीं जा हाय माली-के पड़ा
या, रत्न था अनविद्ध, अब-तक जो न माला-में जड़ा।

गुम्फित कनक-परिधान-में था अरुण आनन चमकता
मानों कि ऊषा काल में बालार्क नभ-में दमकता।
बेंदी चमकती भाल-पर व कर्ण भूषण हिल रहे
विख्यात रक्त कपोल जिनको चूमने को मिल रहे।
वह अमर-शिल्पी की कला को व्यक्त करती थी खड़ी,
हँस केशिनी दासी तभी बोली! आज शुभ मेला घड़ी।
यह यायकों के सदृश नृप मण्डल तुम्हें अवलोकता,
'किसको करोगी धन्य' यों प्रत्येक जन है सोचता।
हैं सब कलात्मक हे शुभे! यह समुत्सुकता मेट दो
विख्यातिने! निज योग्य वर चुनकर अपूर्व स्व भेंट दो।
सकोच अब किस बात का आओ! बढ़ो! आगे चलो!
पाकर सुयोग्य-सुखद-विटप हे सुलतिके! फलो फलो!
यों-कह, पकड़कर मञ्जु-कर वह भीमजा को ले चली।
देदीप्यमान हुई सभी जिससे स्वयवर की स्थली
अपलक अभी तक देखते सब नृपति वैदर्भी छटा।
हे धन्य नृप-गण! वह वचन सुन, ध्यान उन सब का हटा
अन्यान्य का मुख देखकर लज्जित हुए सहसा सभी।
हे धन्य नृप-गण! कह रहा था उधर वह बन्दी अभी
है धन्य! अतिशय आज-की, यह सुखद-सौभाग्य-घड़ी।
की आप लोगों ने यहाँ आकर कृपा हम-पर बड़ी
उससे कृतज्ञ महीप हैं उनका निवेदन है यही।
उसको नरेश क्षमा करें, त्रुटि हो अगर हम से कहीं
उनकी-सुता-के रूप में यह पारिजात-सुमन-खिला
जो आपके यह पुण्य - स्वागत - का हमें अवसर मिला।
वह वर-गुणों से मण्डिता, उपमा न है जिसकी कहीं,
वह बालिका वरणार्थ, सखियों - सहित अब आई यहीं।
उसका स्वयवर हो सफल, ऐसा, सुयत्न सभी करें,
यदि, विघ्न कुछ आय, उसे-तो सदय-परमेश्वर-हरें।

परिचित करायेगी उसे प्रति भूप से उसकी सखी,
जो इस कला में विज्ञ शिक्षा है यही जिसको कि दी।
यह चित्र-युत प्रत्येक नृप के वृत्त को है जानती
उस-पर कृपा-मय आज हैं शुक्लाम्बरा - माँ भारती।
हंसासना का अंश सम्प्रति केशिनी को मानिये !
यह है कुलागत-मान्यता नृप भीम की सच जानिये !
वह यह कहा ज्यों-ही रुका त्यों ही सु-मञ्जुल-केशिनी—
भीमात्मजा-का कर पकड़ कर बढ़ चली सखि-केशिनी।

देखो सखी ! यह यक्ष-गण इस ओर शोभा-पा रहा
विद्याधरों का संघ यह देखो ! उधर बैठा महा।
गन्धर्व गण यह ! सेविका जिसकी सकल गायन कला
किन्नरावली इनकी मनुज क्या लोक में गाये भला।
ये निकट सब देवेन्द्र के सब काम रहते हैं वहाँ
दुख नाम को भी है नहीं सुख ऋद्धि-सिद्धि रहे यहाँ।
उनमें न कुछ रुचि भीमजा की देख वह आगे चली
जिसती भला रवि-के बिना कब कमल-की कोमल कली।
सज्जित हुआ आसीन है भुजगेन्द्र गण इस ठौर से
परिचित कराती हूँ तुम्हें हे आलि ! मैं इस ओर से।
देख ! यह सु-तन मन जिसमें मुकुर-सम दमकता
मुख [illegible] इसका भाग रवि सम चमकता।
यह [illegible] द्वीप का सम-सुन्दर है सग्राम में
[illegible] रहा है नाम [illegible] नाम में।
[illegible] महा [illegible] हैं जहाँ
[illegible] को म [illegible] यहाँ।
[illegible] सुन्दरी !
[illegible] री।

उस द्वीप पर विख्यात इस भूगोल का न्यग्रोध है
जिससे कि सारे द्वीप का स्वयमेव भ्रातप रोध है।
हिम तुल्य वह छाया सखी कसकेलि तुम करना जहाँ
हे सुमुखि ! अपना सुरत श्रम तुम सहज-ही हरना यहाँ।
इसके सुयश के सामने हंसावली की श्वेतता
रम्भोरु ! है भय हीन सी उससे स्वय पाकर भता।
पर, केशिनी तब भीमजा की वह मुलाकृति हेर के
लेकर उसे आगे बढ़ी उस नृपति से मुँह फेर के।
उनके गये पर रह गया यों वदन पुष्कर नाथ का
ज्यों पद्मिनी पति निहृत सा रहता गगन में प्रात का।
देखो चकोराक्षी ! इधर ये शाक द्वीप नरेश हैं
वे शाक नामक विटप इनके राज्य में सविशेष हैं।
आह्लादकारी हिम अनिल, उससे निकल बहता यहाँ
वह उदय गिरि इनके सुयश को स्तम्भ वन कहता यहाँ।
उदयाद्रि पर करना भ्रमण बनकर मुझे ! विस्मय नया
सोचें मनुज रवि स्थान पर, यह विधु कहाँ-से आ-गया।
तुमको जगायेगी खड़ी उस ठौर ऊषा सुन्दरी
गैरिक छटा से पूर्ण हैं उदयाद्रि की विस्तृत - दरी।
करना विहार वहीं सखी होगा सफल जीवन तभी
मिलता नरी-को इन्दुमुखि ! ऐसा सु-योग कभी कभी।
यह नत वदन निज शीलता को प्रगट करता आप है
रण-चातुरी को विदित करता यह करस्थित चाप है।
रहते यहाँ पर विष्णु हैं अचला यहाँ हैं 'चञ्चला'
रिपु एक का भी तो नहीं यव तक जहाँ कुछ वश चला।
भ्रू क्षेप पाकर भीमजा - का केशिनी आगे चली,
चलती हुई भीमात्मजा हंसी - समान लगी भली।
वर्णन करो कमलाक्षि ! तुम इस वीर क्रौंच महीप के,
दधि मण्डकोदधि वह रहा, यहँ घोर उस वर द्वीप के।

परिचित करायेगी उसे, प्रति भूप से उसकी सखी,
जो इस कला में विज्ञ सिखा है यही जिसको कि दी।
वह चित्र-युत प्रत्येक नृप के वृत्त को है जानती
उस-पर कृपा-मय भाव हैं शुक्लाम्बरा माँ भारती।
हंसासना का भक्त सम्प्रति केशिनी को मानिये !
यह है कुलागत-भामता नृप भीम की सच जानिये !
वह यह बता, ज्यों-ही रुका त्यों ही सु-मञ्जुल-वेशिनी—
भीमात्मजा-का कर पकड़ कर बढ़ चली सखि-केशिनी।

'देखो सखी ! यह यक्ष-गण इस ओर शोभा-पा रहा
विद्याधरों का संघ वह देखो ! उधर बैठा महा।
गन्धर्व गण यह ! सेविका जिसकी सकल गायन कला
चिरदासवी इनकी मनुज क्या लोक में गाये भला।
ये निकट सब देवेन्द्र के सब काल रहते हैं वहाँ
दुख नाम को भी है नहीं सुख ऋद्धि-सिद्धि रहें जहाँ।
उनमें न कुछ रुचि भीमजा की देख वह आगे चली
खिलती भला रवि-के बिना कब कमल की कोमल-कली।
सज्जित हुआ आसीन है युवराज गण इस ठौर से
परिचित कराती हूँ तुम्हें हे आलि ! मैं इस ओर से।
देखो सखी ! यह सु-गण मण जिसमें मुकुर-सम चमकता
गुर्जर मनुज विशाल इसका भाल रवि सम चमकता।
यह नाथ पुष्कर द्वीप का यश मयूख है संग्राम में
साकार धर्म रसिक तथा है काम सा ही काम में।
यह द्वीप समझो स्वर्ग ब्रह्मा स्वयं रहते हैं जहाँ
दुःखादि कष्ट भी मनुज को सहना नहीं पड़ता यहाँ।
ऐश्वर्य पूर्ण तुम्हें मिले इसको वरो हे सुन्दरी !
ब्रह्मा स्वयं सु मुदित रहेंगे देखकर निज चातुरी।

उस द्वीप-पर विख्यात इस भूगोल का न्यग्रोध है
जिससे कि सारे द्वीप का स्वयमेव आतप रोध है।
हिम तुल्य वह छाया सखी कलकेलि तुम करना वहाँ
हे सुमुखि! अपना सुरत श्रम तुम सहज ही हरना वहाँ।
इसके सुयश के सामने हंसावली-की श्वेतता
रम्भोरु! है अब हीन सी उससे स्वयं पाकर श्वेता।
पर, केशिनी सब भीमजा-की वह मुखाकृति हेर के
लेकर उसे आगे बढ़ी उस नृपति से मुँह फेर के।
उनके गये पर, रह गया यों वदन पुष्कर नाथ का
ज्यों पद्मिनी पति निहत सा रहता गगन में प्रात का।
देखो चकोराक्षी! इधर ये शाक द्वीप नरेश हैं
वे शाक नामक विटप इनके राज्य में सविशेष हैं।
आह्लादकारी हिम अनिल उनसे निकल बहता वहाँ
वह उदय गिरि इनके सुयश को स्तम्भ बन कहता वहाँ।
उदयाद्रि पर करना भ्रमण थमकर तुम्हें! विस्मय भया
सोचें मनुज रवि स्थान पर, यह विधु कहाँ-से आ-गया।
तुमको जगायेगी खड़ी उस ठौर ऊषा सुन्दरी
गैरिक छटा से पूर्ण हैं उदयाद्रि की विस्तृत दरी।
करना विहार वहीं सखी होगा सफल जीवन तभी
मिलता मही-को इन्दुमुखि! ऐसा सु-योग कभी कभी।
यह सब वदन निज गौरता को प्रगट करता आप है
रण चातुरी को विदित करता, यह करस्थित चाप है।
रहते वहाँ पर विष्णु हैं भवसा वहाँ है 'भव्यसा'
रिपु एक का भी तो नहीं अब तक जहाँ कुछ वश चला।
भ्रू-क्षेप पाकर भीमजा-का केशिनी आगे चली,
चलती हुई भीमात्मजा हंसी-समान लगी भली।
दर्शन करो कमलाक्षि! तुम इस वीर क्रौंच महीप के,
दधि-मण्डकोदधि वह रहा चहुँ ओर उस वर द्वीप के।

उस ठौर का रहना भला होगा नहीं रुचिकर किसे
है मन्त्रणा मेरी अये-सखि ! भीमजे ! वर लो इसे !
गिरिनन्दिनी - नन्दन शरों से प्रणित-देह हुआ पड़ा
वह क्रौंच दारुण अचल तो भी है वहाँ उत्सुक खड़ा।
सखि ! हंस कलरव व्याज से मानों बुलाता वह तुम्हें
कल-केलि के हित स्थान क्या वह भी न भाता है तुम्हें।
कर अर्चना हर की वहाँ हे भामि ! केवल दर्श से
हैं मुक्त हो जाते सदा को मनुज जननी गर्भ से।
दधि मण्डलोदधि में सखी ! करना विहार कभी कभी
होना विशालाक्षी सफल केवल निहार कभी कभी।
उस ठौर से जो हंस नित जाते विदेश नये नये
वह सुयश इनका हंस बन दिग्व्याप्त होता है अये !
क्रौञ्चेश में पर अरुचि मुख-से भीमजा की मान के
वह वह चली उस भूप को अप्राप्य उसका जान के।
हे खञ्जनाक्षी ! देख ला कुश द्वीप के ये नाथ है
असि अमर के द्योतक महा आजानु इनके हाथ हैं।
द्युतिमान इनका भाल धन-धन तेज-जल बरसा रहा
इस ठौर आगत नृपति गण इनसे सभी डर सा रहा।
घृत-सिन्धु बहता है वहाँ कुश द्वीप तट पर सुन्दरी !
आकृष्ट करतीं दृष्टि को वे मन्दराचल की दरी।
जो हैं अनन्त न छोर उनके दृष्टि में आते कभी
नर्तन मयूरों का वहाँ कोकिल सु कूजन गान कभी।
हे रमणीम्‍ ! प्राप्त कर इनको रमण करना वहाँ
निश्चय समझलो प्राप्त इनसे हो तुम्हें आनन्द महा।
आगे चलो सुन भीमजा स, कशिनी आगे चली
ग्रीष्मार्त्त-मृग-सम हाय ! तब कुशनाथ की आशा चली।
हे सुमुखि ! शाल्मल द्वीप के य नृपति शोभा पा रहे
नभचर सभी धारण बने इनके सुयश को गा रहे।

विधि से अहा, कैसी इन्हें यह दिव्य सुन्दरता मिली
खल वृन्द के दमनार्थ भी दुदम्य बर्बरता मिली।
मृत व्यक्तियों के हेतु जीवन दान जो करती सदा
सञ्जीवनी बूटी क्षमा - व्रण जन्य जो हरती सदा।
उसका जनक वह द्रोण-गिरि, उन्नत वहीं पर है खड़ा
हे सुस्तनी ! वर कर इन्हें होगा तुम्हारा हित बड़ा।
ज्यों जब नदी पथ के प्रबल-से सिन्धु में जाती चली
त्यों भीमजा उस नृपति से बचकर, खिसक आगे-चली।
बोली तनिक चल केशिनी, हे इन्दुमुखि ! देखो इन्हें
ये नाथ प्लक्ष द्वीप के रवि - सदृश ही लेखो इन्हें।
वे प्लक्ष शाखा झूलती दोला सदृश ही गगन में
उन पर सुरम्ये ! झूलना सुख-शत-गुणित हो रमण में।
इनकी प्रजा विधु भक्त है जो इन्दु के दर्शन बिना—
भोजन न करती कष्ट उसका यह प्रथम जाता गिना।
हे सखि ! तुम्हारा विधु विनिन्दित-वदन यह होगा जहाँ
समझो रहेगा भूमि पर सब काल चन्द्रोदय वहाँ।
वे चकोरशहर तुमको समझ, पूजा करेंगे भाव से
कितना न जाने वे तुम्हें सम्मान देंगे चाव से।
बहती विपाशी सरित, प्लक्ष - द्वीप में जल से भरी,
देखो वहाँ पद्मावली पङ्कज - वृन्दों से सुन्दरी !
इनके सुयश-से सरित - जल जब श्वेत दुग्ध - सदृश लगे
तब क्षीर नीर विवेकधारी, हंस - भी भ्रम ठगे।
पर भीमजा को देखकर, जो अनमनी सी लग रही,
प्रत्यक्ष जानता कि तब जिसके वदन - पर जग - रही।
सब केशिनी आगे चली, वह मञ्जु कर, कर-में गहे,
उस काल प्लक्षाधिप, विधुन्तुद ग्रस्त-विधु के सम रहे।
कुछ ठिठक कर फिर केशिनी बोली—कमलनयने ! सुनो
देखो, तुम्हारे योग्य जम्बूनाथ ये, इनको चुनो !

है भ्राज सर्वश्रेष्ठ जम्बू द्वीप, जग में हे सखी !
तुमसे भ्रसङ्कृत यह हुआ सविशेष भव से हे सखी !
शोभा यहाँ की शत-गुणी, जम्बू वनों से हो रही,
जाम्बू नदी उस ठौर जनता के कलुष सब धो रही।
उस प्रान्त के हित देवियाँ भी सर्वदा उत्सुक रहें
दो हमें जम्बू फल सहठ निज प्रियतमों से वे कहें।
जो दृष्टि बरबस खींचते हैं और ऐसे पुर कहाँ
वह विश्ववन्द्य अवन्तिका शोभा बढ़ाती है यहाँ।
शिप्रा-नदी का नाम बस कम श्रोत्र सुखकारी बड़ा
वह हेमगिरि ही स्वयं बनकर छत्र सोने का खड़ा।
तारुण्य का फल प्राप्त होगा कर विहार तुम्हें वहाँ
उपहार में निज सुमन का देंगे स्वयं तुमको जहाँ।
अनुराग हीना देखकर, पर भीमजा की दृष्टि को
वह केशिनी आगे बढ़ी ले साथ स्वर्ग सु सृष्टि को।
कहने लगी स्मितहासिनी सखि ! गौड़ नृप को देख लो
समझो उचित तो हे सरोजमुखी ! इन्हें निज भेंट दो।
पाकर तुम्हें सचमुच यहाँ ये नव पयोद सदृश लगें
जब दामिनी सी द्युति तुम्हारी अंक इनके जगमगें।
इनसे समर भर रिपु न इनका एक भी जीवित बचा
इनको न अपने सदृश कोई वीर भूतल पर जँचा।
सुन्दर गुणी ये सब प्रजा इनको जनक सम मानती
निज प्राप्त स्वर्ग समझ, अवनि का नाक इनको जानती।
इनसे अगर तुम चाहती हो प्रेम मय क्रीड़ा, सखी !
कहने न देती और मन्‍ि वह विघ्न बन क्रीड़ा सखी।
सकेत ही से तो कहो मैं समझ जाऊँगी सभी
मासा तुम्हारी वक्ष-से इनके छुड़ाऊँगी अभी।
अघु दृष्टि से भीमात्मजा-की, एक दिव्य अपाङ्ग से,
हँस कंदिनी आगे चली हेमाङ्गना को साथ ले।

कहने लगी फिर हे सुमुखि ! उपविष्ट ये मथुरेश हैं
नवयुवक हैं किस भाँति काले कृष्ण घन से केश हैं।
पूर्णेन्दु-सा मुख चमकता कितनी विशाल भुजा भये !
हे लग रहे ज्यों शक्र सजकर स्वर्ग भू-पर आ-गये।
गोकुल यहाँ की स्वयं कालिन्दी बताती आप है
वह तरणिजा रोके स्वयं रहती तरणि का ताप है।
उस ठौर सुन्दरि ! श्याम-वन की है बड़ी-मोहक छटा
जिसको विलोक मनुज न फिर निज दृष्टि को सकता हटा।
वरकर इन्हें उस विपिन में कल केलि करना घूमना
हाँ, नाचते केकी कुलों को देख तुम भी झूमना।
पावस समय का दृश्य ऐसा और पाओगी कहाँ
हे कम्बुकण्ठि ! मिला स्व रव, पिक-संग तुम गाना वहाँ।
सन्ताप के पर चिन्ह मैंमी वदन पर पाये नहीं
सखि केशिनी समझी कि ये नृप भी इसे भाये नहीं।
वे बड़ीं तब मथुरेश का मुख रंग ऐसा हो गया
मानों कि साधक का कहीं पर सिद्धि-धन ही खो गया।
प्रति कमल पर मानों पवन अल-की लहर को ला रही
ले भीमजा को केशिनी, प्रति भूप पर त्यों जा रही।
पीछे - रहे नृप के मनों में स्वाभिमान बड़ा जगा
अपनी उपेक्षा उस समय अपमान घोर उन्हें लगा।
अब बैठना भी था कठिन वह प्रभा ही रोके-रही,
सम-सज्जितों-को देख मन को सान्त्वना थी पा रही।
"सखि ! देखलो, बैठे हुए, इन सौम्य - काशीनाथ को
यों केशिनी बोली उठा उस ओर अपने हाथ को।
इस सकल भू - पर पुण्यदा, काशीपुरी विख्यात है,
ये हैं महा विद्वान-ऐसो भुवन मोहक गात है।
शोभा बढ़ा वाराणसी की स्वयं वरुणा बह-रही,
वह स्वयं कल-कल-व्याज से इनके सुयश का कह रही।

वाराणसी भव बन्धनों से छूटने की युक्ति है
उस ठौर मरकर सहज ही होती जनों की मुक्ति है।
भव-भञ्जमायें मुग्ध हो इसको स-मुद चाहें सभी
वर लो इन्हें ऐसा न अवसर प्राप्त होगा फिर कभी।
सखि ! स्वयं शंकर ने बसायी वह पुरी इस लोक-में
उस ठौर कोई जन न तुमको लिप्त पाये शोक-में।
उस जगह को कृतकृत्य है सखि ! स्वयं जगदम्बा-किये
कल-केलि के हित सुखद हो वह भू तुम्हारे भी लिये।
मेरा न है यह प्राप्य ऐसा साथ मन-में भीमजा—
चलकर वहाँ ठहरी जहाँ बैठा अयोध्याधिप सजा।
था अप्सराओं के सदृश सखि-वर्ग सुमुदित साथ-में
भैमी-कमलकर को लिये थी वेत्रिनी निज हाथ-में।
देखा सखी ! ऋतुपर्ण को कसा ! सुडौल शरीर है
दिनकर-समान सु-कान्ति सागर के सदृश गभीर है।
वह भव्य सरयू तट यहाँ हो मुग्ध हंस जहाँ रहें
जो निज प्रियाओं का वियोग न एक पल को भी सहें।
उन हंस-शिशु से तुम्हें ये साथ रक्खें सुन्दरी !
वसुधासुधे ! तुमको चलें ये कर अनेकों चातुरी।
उस दिव्य सरयू तीर-पर तुम हंस क्रीड़ा देखना,
सुर सरित-तट पर शची के सम तब स्वयं को लेखना।
सखि ! याद इनके शत्रुओं की देखकर आती यही,
उनकी प्रियायें प्राप्त-कर वैधव्य को जो रो-रही।
साकेत सी शोभा न है साकेत को तजकर कहीं
हे हंसिनी ! आनन्द लेना तुम इन्हें भजकर वहीं।
पर, भिन्न रुचि है लोक-में रुचता न रोचक भी यही
बढे यहाँ पाण्ड्यपति अब वे सब-रूकीं आकर वहीं।
मण्डप-गगन में नृप-सभा, उडु-गण-घटा-सी घिर रही
वह इन्दु-वदनी भीमजा पूर्णेन्दु बनकर फिर रही।

पाण्ड्येश का गुण-गान अब वह मेखिनी करने लगी,
हे सुमुखि ! देखो भव्य-मुख, द्युति-दिव्य-कैसी जगमगी।
इनके सभी रिपु मानकर भय, स्थिर न रह सकते कहीं
वे भीत छिपते विपिन में ये समर में थकते नहीं।
इनकी सकल-रिपु-सम्पदा इनके यहाँ ठहरी हुई,
निर्भीकता इनकी परम उसकी सजग प्रहरी हुई।
वह कौन ! बस रण-हित न इनके भट जहाँ-पर जा सके,
किस ठौर, ये होकर जयी अपनी ध्वजा न उड़ा-सके।
कर मन्द-सी वाणी मधुर हँस मेखिनी कहने लगी
आमोद आली का विवश-हो-नत-दृगी सहने लगी।
तुम चाहती निषधेश को मैं जानती हूँ हे सखी !
वर भय को मरतीं न तुम मैं मानती हूँ हे सखी !
धन-रूप-बल विद्या विभव - में हैं उन्ही के तुल्य ये
निषधेश इनके मूल्य सखि ! हैं और उनका - मूल्य ये।
पाना उन्हें ही इष्ट इनको तदपि तुम छोड़ो नहीं
मन की प्रिये ! मन-सदृश धन-से मूल मुँह मोड़ो नहीं।
शत-शत जनों को पार जब करती अकेले ही लगी
एकाकिनी श्री जगत-से सु-विहार जब करता भरा !
कल्याण फिर जग-सुन्दरी जब एक ही का क्यों करे,
उपविष्ट श्रेष्ठ - वरावली-में, एक-ही वर-क्यों वरे।
तब भाव सहसा ही घृणा के भीमजा-मुख-पर जगे
साध्वी-सती-को दृस मी अब ! पापमय अच्छा लगे।
करके कटाक्ष सरोष वैदर्भी, तभी आगे-बढ़ी
अरुणाभ-मञ्जु-कपोल ज्यों, उदयाद्रि-पर ऊषा चढ़ी।
ये हैं कलिङ्गाधिप सुनो इनके गुणा को सुन्दरी !
देखो विधाभाली ! मुकुट भाकरण ये इनके धरी !
उस प्रान्त की धामा महेन्द्राचल बढ़ाता आप है
उत्तुङ्ग-शृङ्गों पर जयध्वज वह उड़ाता आप है।

जितने द्विरद इनके यहाँ इतने न पायेंगे कहीं
इनके निकट थी भी स्वयं होकर विमुग्धा रह रही।
सुन गुण अधूरे ही वहाँ से भीमजा आगे चली
अवमानना अपनी कलिङ्ग नरेश को अति ही खली।
बैठे जहाँ काञ्चीपुराधिप आ रुकीं दोनों वहाँ,
यह भी न देखा साथ की वे सहचरी अपनी कहाँ!
संकेत दृग का कर सखी ने भीमजा से यों कहा,
देखो सुमुखि! काञ्चीपुरी का सु नृप यह बैठा अहा।
कोदण्ड कुण्डल-सा सदा-संग्राम में इनका रहे
रण-में विशिख इनका न गज भी सामने आकर सहे।
इन पर कृपामय सब अमर, अति यज्ञ इस नृप ने किये
बहु-दान देकर दीन-याचक-भी कुबेर बना दिये।
संमानितों को मान दे दुर्दण्ड देते दुष्ट को
उसका न फिर रक्षक कहीं यह नृपति जिससे रुष्ट हो।
गाती-चली प्रत्येक नृप-का विरुद यों ही केशिनी
ठहरी न फिर सम्मुख किसी के भीमजा वरवेशिनी।
मिथिलेश पीछे-रह-गये छोड़ा इधर मगधेश को
पीना पड़ा अपमान मानी कामरूप-नरेश को।
भूपावली को छोड़ वह आगे बढ़ी जब लालिमा
पीछे रहे नृप-मुखों-पर फिर-सी गई तब कालिमा।
ले साँस लम्बी विवश वे निस्तेज-से सब रह-गये
सविषेप सज्जा-सिन्धु-में तब उत्कलाधिप बह गये।
थे और भी जो नृपति छोड़े तब वहाँ सज्जित हुए,
'हम व्यर्थ ही आये' सभी वे सोच-यों लज्जित हुए।

(२)

राज्जित हुए वर-मञ्च पर निषधेश बैठे-थे जहाँ
ले साथ दमयन्ती भगी को केशिनी पहुँची वहाँ।

ज्यों, देखकर विकसित कमल, भ्रमि फिर न भागे आ-सके
त्यों-देखकर नल-मुख-कमल पद स्वयं भैमी के रुके।
अपलक दृगों-से देखती चित्राङ्किता-सी-रह-गई
मनजान-में माना स्वय यह भाव अपना कह-गई।
कहने लगी-फिर केशिनी सखि! देखलो निपधेश-को
इनका सु-वेश अतिक्रमण करता सुरों-के वेश-को।
देदीप्यमान विशाल इनका भाल कसा चमकता
रजनीश पूरे मास का मानों गगन में दमकता।
कितना गठित है देह भुज गज-शुण्ड-सम माँसल घने
हाँ पकड़कर कोदण्ड ये जब जब समर में हैं तने।
तब सब विनिर्मित लौह मे रिपु-वृन्द ने माना इन्हें
अवसाक इनके क्रोध को यम दूसरा जाना इन्हें।
निन्देश मे गति हीन हे रिपु विश्व में इनके रचे
भागे मरे अथवा शरण-में पहुँचकर इनकी बचे।
ये प्रेम हैं साक्षात् इनको शान्ति भी अनुपम मिली
पाकर गुणी को कब न इनकी हर्ष से आँखें खिलीं।
सखि! देव-दुर्लभ ही हृदय इनको मिला भगवान से
तम-मन विभूषित हो रहा इनका असीमित ज्ञान-से।
जब, निज विशाल सुराष्ट्र इनके जनक मे इनको दिया
गुण-अघ भी तब स्वय ही उनसे इन्होंने ले लिया।
सखि! वक्ष इनका देखला, हिमवान-सा विस्तृत तना
सु-विरुद्ध तत्वों से कि जिसके बीच यह मानस-बना—
जो, कठिन से भी कठिन कोमलतम कभी है दीखता
पर-गुणी को भी पूजता निज-दुष्ट-का देना यथा।
देवेन्द्र भी आसन स्वय आधा इन्हें देत भरी!
इनके लिए देवाङ्गना भी चाहतीं होना मरी।
है-देख-कर इनका परस्पर तरुणियाँ कहतीं यही
शिव न जिसे फूका भरी यह जी-उठा है स्मर वही।

था, भावनी-मदमत्त-हो, मदनारि थे भ्रम-में पड़े,
'जीवित रहा स्मर' वे-हठीले फूँक-गया यों-ही खड़े।
निज-वक्ष को इस वक्ष-से, अपना जुड़ायेगी अरी!
सुर दुर्लभा वह कौन होगी भाग्य शीला सुन्दरी!
वह कौन! इनके पद-कमल पूजा करेगी चाव-से
वह धन्य होगी ये जिसे गृहिणी कहेंगे भाव-से।
वह कौन! इस धन मधु को लोभित-करेगा कामिनी
भू-भानु का अब भोग्य सचमुच ही बने भू भामिनी।
दिग्व्याप्त है इनका सुयश जाओ जहाँ पाओ वहीं
इनके गुणों-का गणन कर सकता गणित-पुङ्गव नहीं।
दान, यज्ञ किये हैं यश इनके पूर्वजों ने लोक-में
योगी-समान सदा रहे सम सौख्य में या शोक-में।
पृथ्वी-मनुज ही स्वर्ग-को हैं देख सकते यह कथा
हे चन्द्रवदनी! कर दिखायी है इन्होंने अन्यथा।
यह प्रान्त इनका भाग दिव-का भी अतिक्रम-कर गया
अब देख लें प्रत्यक्ष पापी-मनुज भी यह दिव नया।
गुण-ग्राम में इनके अरी! देवेन्द्र भी सकते नहीं
वह काम इनका सौंपते जो स्वयं कर-सकते नहीं।
यम-वरुण इन्द्र अनल अरी! इनके कृतज्ञ हुए घने
ये चार शास्त्र विशारदों-में प्रथम ही जात गिने।
सखि! मदन-विद्या में न इनके तुल्य है कोई कहीं
हाँ, दान इनके सदृश कर सकते कुबेर स्वयं नहीं।
गुण केशिनी गाती, सु-हर्षित-भीमजा - सुनती गई
उसके कपोलों - पर प्रकट रंगी-गई ऊषा नई।
संकोच-के गुरु - भार न ये पलक नयनों पर झुके
पद-चाहते चलना न कुछ भी वच मन सहसा-रुके।
जयमाल हाथों-में उठी पर उठ वहीं रुक रह गई
वह कनक-वल्ली कुछ वहीं सहसा सघन मुरझ-रह गई।

करतव्य - मूढ़ समान उसको देख बोली केशिनी,
पूरा करो अब कार्य लज्जा छोड़कर वर-वेशिनी।
अवलम्ब पाने के लिए भी चाहती अवलम्ब हो
यह भूल जाती-हो कि तुम स्वयमेव जग-की स्तम्भ हो।
यदि, चाहती अवलम्ब-ही तो लो तुम्हें मैंने दिया
यों-कह, सु-कर जयमाल-वाला हाथ अपने-में लिया।
कहने लगी-फिर केशिनी कुछ मन्द-सी चलती हुई,
अनुपदा दमयन्ती, मराली-को चली-छलती हुई।
'क्या-सोच है सखि! छल न कुछ होगा तुम्हारे साथ में,
निर्भीक हो निज पाणि-को सौंपो निषधपति हाथ-में।
भरपूर नृप-मण्डल, सुमुखि! तुम देखलो बैठा-यहाँ
इनके सदृश कोई सखी! पर लग रहा इनमें कहाँ!
घूमी नरेन्द्रों पर तभी मृग-हरिणियों-सी दृष्टि-भीं
क्षण एक-ही हो रह गई तब वह सुधामय वृष्टि-सी।
ऐं, ऐं, सखी! यह क्या-अधूरा वाक्य-ही मुँह से कहा
उसका सभी वह हर्ष सहसा रूप भय-का धर-बहा।
बैठे वहाँ-पर एक से ही पाँच नल निषधेश थे
थी एक-सी आकृति सभी की एक-से ही वेश थे।
थे पलक सबके साथ लगते अङ्ग हिलते साथ थे
कोदण्ड-भी सब एक-से ही ले रहे सब हाथ थे।
मुख भी सभी के एक-ही से भाव-करते व्यक्त थे
यह देख भीता-केशिनी के पद-हुए निश्शक्त थे।
हे हे सखी! ये चार आगे, बिछ-रहे जो मञ्च हैं,
उन पर सभी निषधेश बैठे इस तरह नल पञ्च-हैं।
हैं कौन से कल्पित निषधपति, और प्राकृत-कौन है,
सखि! इस विषय-में देव भी कुछ कह न सकते मौन हैं।
देखो बहन इनमें न अब तिल-मात्र अन्तर पा रहा
सहसा तभी "नल मैं अरे, नल मैं" सभी ने यह-कहा।

सुनकर डरी भैमी कमल-मुख-अरुणिमा पीली हुई,
उसकी मृगी-सी आँख अपने आप-ही गीली-हुई।
जयमाल वाला पाणि था कुछ उठ-रहा माला लिये
अपलक-हुई क्षण भर वरद-देवीश्वर-को धारण-किये—
पाँचों नलों का देखती प्रतिमा बनी सी रह गई
मन कह रहा है देव! यह क्या आ-गई विपदा-नई।
कहने लगी फिर केशिनी ये आ-गये आश्चर्य! छुपी
अप्राप्य तुमको समझकर ही पास इन सब ने बसी।
आमेन्यगत सी भीमजा का वस्त्र वह कहती रही
सखि! प्रण-परीक्षण-काल आ-पहुँचा तुम्हारा क्या यही।
अब हम विपन्ना क्या करें मति कुछ न देती काम है
कहते सभी पर धीर होना विपद्-में अभिराम है।
होते न देखी देव-गण से पूर्ण जब निज कामना
फिर दूत-द्वारा सुन-चुके होंगे परम अवमानना।
तो कर रहे यह विघ्न वे ही हो गये अब क्रुद्ध हैं
दुष्कृत्य ऐसे हाय! क्या देवत्व के न विरुद्ध हैं।
मुझको हटायें देव मेरे मार्ग-से यदि शक्ति हो
वे देखलें आकर सभी भीमात्मजा पतिभक्ति को।
यह घोषणा आकर में जो प्रथम ही तुम कर चुकी
उनकर दिगीशों को भरी! निषधेन्द्र को ही वर-चुकी।
आश्चर्य क्या तब आज सुर-गण विघ्न यदि कुछ आ-करें
के देखने साहस तुम्हारा रूप नल-का आ-धरें।
यह देखकर मण्डप-तले घटना महा विस्मय मयी
भय-पूर्ण रेखा निज-जना के मुखों-पर दौड़ी गई।
पर विपदग्रस्ता भीमजा-को देख वे प्रमुदित हुए
जो नृपति कुछ राग-युत उसने दग्ध अस्वीकृत किये।
थी मतमतो-सी फैल राग सभा में सहसा गई
नृप भीम भी व्याकुल-हुए, यह विपद् देख नई-नई।

सब रुक-गये वादित्र, चिन्ता और व्याकुलता बढ़ी,
दर्शक-मुखों पर भी स्वयं विस्मय-भरी रेखा-चढ़ी।
अवलोकने पाँचों नलों को सब उठे निज स्थान से
कुछ मुख बढ़े थे बात कहने-के लिये पर-कान से।
बढ़कर गये नृप-भीम दमयन्ती सुता खिन्ना जहाँ
नल पाँच थे बठे-हुए, उन पाँच मञ्चों-पर वहाँ।
अति-चकित-सा अवलोक नृप-का केशिनी कहने लगी
नृप ध्यान-से सुनते रहे पर, दृष्टि थी मानों ठगी।
हे देव! हम आयीं यहाँ सहचरी-को आगे लिये
पीछे-रहे भूपाल अस्वीकृत सभी इसने किये।
वरलाय अब निषधेश-का जयमाल निज कर-में गहीं
तब देखकर नल पाँच को हम विस्मिता-मोहा रहीं।
यम वरुण हैं इनमें तथा बैठे अनल नाकेश हैं
कुछ भी न जान पड़ा कि इनमें कौन से निषधेश हैं।
हैं चार वे ही देव निश्चय समझ यह हमने लिया
यों स्वागमन का पूर्व-ही सन्देश उन सब ने दिया।
सुनकर वचन नृप वदन से "हूँ" स्वरित ही निकला तभी
अवलेप-भी वृत्तान्त तब उस क्षिण में समझा सभी।
हैं देव यदि ये तो अरे! क्या-सोच है चिन्ता तजो
इनकी करो स्तुति प्रेम-से श्रद्धा-सहित इनको भजो।
सुर-सौम्य तो सम्मान के हो सर्वदा भूखे रहे
करते उन्हें ये सजग, जो इनके-लिए रूखे रहे।
हाँ, भूल होना आदि-से ही मानवों का धम है
इनके लिए तुमसे कहीं कुछ हो गया दुष्कर्म है।
स प्रेम तुम इनसे करो तनये! क्षमा-याचन अभी
ये तुष्ट होंगे तो विगत होंगे सकल सन्ताप भी।
मैं भी करूँगा यत्न जिससे देव शीघ्र प्रसन्न हों
अपनी स्वयंवर घोषणा सानन्द जो सम्पन्न हो।

हे दीन रक्षक! छोड़कर तुमको पुकारूँ मैं किसे!
ये व्यर्थ ही अपमान अपना सुर समझ बैठे जिसे।
मैंने किया वह धर्म-पालन और था समुचित यही
संकल्प तोड़ेगी न निज सहमी-हुई भैमी कहीं।
हे नाथ! दो सम्मति इन्हें जो मार्ग मेरे से हटें
ये-देव होकर धर्म-पथ-में जो न विघ्न-बने-डटें।
मेरे न सच्चे भाव क्या-तुम जानते-हो हे प्रभो!
या भीति तुम भी देव-गण-से मानते-हो हे प्रभो!
आये नहीं अब तक विभो! क्या-है दयामयता यही
कैसे कहूँ मैं नाम प्रभु-का है दयासागर सही।
संकट-विमोचन! शीघ्र-ही आओ विराजे-हो कहाँ
है कौन! अथवा ठौर वह प्रभु! तुम नहीं रहते जहाँ।
यदि आ न सकते तो वृथा-ही जगत-पालक नाम है
हे ईश! सत्वर रोक दो जो हो-रहा दुष्काम है।
थी जिस-समय गा-कर रही भैमी विनय भगवान-से
सुर-सब की स्तुति-मग्न थे भू-सुर उधर अति-ध्यान से
पर, हृदय फिर भी था वहीं अब भीमजा रोने लगी
उसके दृगों की कालिमा सहसा अरुण होने लगी।
आप्त सदा अवतार बन तुम नाथ! दीनों-के लिए,
विश्रुत तुम्हीं-हो एक आश्रय नाथ! हीनों के लिए।
फिर कौनसे! अपराध ऐसे, घोरतर मैंने किए,
करते न करुणा आज जो करुणानिधे! मेरे लिए।
सम्मुख त्रिलोकी-के पिता-का कार्य क्या-यह ही कहो
अबला-सुता रोया-करे, निश्चिन्त तुम बैठे-रहो।
पाखण्ड यदि यह है सभी, तो लोभ तुम-भी छोड़-दो,
त्रैलोक्य-से अपना पुराना, आज नाता तोड़ दो।
होगा लिखा जो भाग्य-में, भोगूँ सहर्ष सभी कहीं,
पर, जान लेगा विश्व, रक्षक है न अब उसका कहीं।

वह मीमजा-का प्रार्थना-स्वर अकस्मात् मदम गया
कँप-सी कनकवल्ली गई वह सुतन-में भाया भया।
तन-सा गया कुछ भास अमृताधर मध्य हिमने लगा
हो वायु से कम्पित सुमन-सम्पुट ज्यों खिलने लगा।
सित मोतियों-से दाँत सहसा अधर ऊपर आ-गये
ज्यों रक्त-मणि-पर श्वेत-नग सुषमा-सहित हों छा-गये।
आवेश आया और श्वासें उष्णतर होने-लगीं
अवमाथिता उसकी सभी वह शीघ्र कोमलता भगी।
दृग-में अरुणिमा-छा-गई अंगार से जलने लगे
लक्षण प्रगट थे क्रोध-के कारुण्य के ढलने-लगे।
रवि-की प्रखरता-में सभी शशि-धैर्य परिणत-हो गया
उस नागिनी-के सम हुई जिसका सु-धन मणि-खो गया।
अम्बक विसक-सा था गया जाना नहीं इसने उसे
निज वेश-भूषा ध्यान रहता क्रोध-में कब है किसे!
उस-काल केशों-बीच उसका रक्त-मुख यों चमकता,
रवि प्रात का ज्यों श्याम-घन-के पटल-में हो दमकता।
निज रोम में हंसी-सदृश जो अमृत पहले घोलती,
अब भी वही घन-घोष सी, भयभीत होकर बोलती।
वह ईश की थी प्रेरणा सद्धर्म की या शक्ति थी
आर्य्यबाला-का क्षोभ था सु-पुनीत या पति भक्ति थी।
हा, हा, न कोई लोक-में क्या-आज है ऐसा-बली,
होकर कुपथ-गामी यहाँ, ये देव जो आये छली।
जो दण्ड इसका दे इन्हें ये फिर न जो ऐसा-करें,
कामुक हुए तनया किसी-की, फिर न जो ऐसे-हरें।
सुनते न ये, मैं प्रार्थना हूँ कर चुकी इनकी सभी,
कोई मिली थी किन्तु, ये-भी जान जायेंगे अभी।
रे पातकी! देवी अहल्या-सी, तुम्हीं ने भ्रष्ट की
कितनी न जाने, साध्वियों-की साधुता है नष्ट की।

हे दीन रक्षक ! छोड़कर तुमको पुकारूँ मैं किसे !
ये व्यर्थ ही अपमान अपना सुर समझ बैठे जिसे।
मैंने किया यदि धर्म-पालन और था समुचित यही
संकल्प तोड़ेगी न निज सहमी-हुई भैमी कहीं।
हे नाथ ! दो सम्मति इन्हें जो मार्ग मेरे से हटें
ये देव होकर धर्म-पथ-में जो न विघ्न-बने-डटें।
मेरे न मनके भाव क्या तुम जानते-हो हे प्रभो !
या नीति तुम भी देव-गण-से मानते-हो हे प्रभो !
आये नहीं अब तक विभो ! क्या-हूँ दयामयता यही
कैसे कहूँ मैं नाम प्रभु-का है दयासागर सही।
संकट-विमोचन ! शीघ्र-ही आओ विराजे-हो कहाँ
है कौन ! अथवा ठौर वह प्रभु ! तुम नहीं रहते जहाँ।
यदि आ न सकते तो वृथा-ही जगत-पालक नाम है,
हे ईश ! सत्वर रोक दो जो हो-रहा दुष्काम है।
थी जिस-समय या-कर रही भैमी विनय भगवान-से
सुर-सम की स्तुति-मग्न थे भू-सुर उधर अति-ध्यान से
पर हृदय फिर भी था वही अब भीमजा रोने लगी
उसके दृगों की कालिमा सहसा अरुण होने लगी।
प्रात सत्य अवतार बन तुम नाथ ! दीनों-के लिए,
विधुस तुम्हीं-हो एक आश्रय नाथ ! हीनों के लिए।
फिर कौनसा ! अपराध ऐसे घोरतर मैंने किए,
करते न करुणा आज क्या, करुणानिधे ! मेरे लिए।
सचमुच त्रिलोकी-के पिता-का नाथ क्या-यह ही कहो
अबला-सुता रोया-करे, निश्चिन्त तुम बैठे-रहो।
पाषाण यदि यह है सभी, तो सोम तुम भी छोड़-दो,
असोदय-स अपना पुराना, आज नाता तोड़ दो।
होगा लिखा जो भाग्य-में, भोगूँ सहर्ष सभी वही,
पर, जान पड़ता विश्व, रक्षक है न अब उसका कहीं।

वह भीमजा-का प्रार्थना-स्वर अकस्मात् बन्द गया
कँप-सी कनकवल्ली गई बस सुमन-में आया नया।
तन-सा गया कुछ भाल अमृताकर मलय हिलने लगा
हो वायु से कम्पित सुमन-बन्धूक ज्यों खिलने लगा।
सित मोतियों-से दाँत सहसा अधर ऊपर आ-गये
ज्यों रक्त-मणि-पर श्वेत-नग सुषमा-सहित हो छा-गये।
आवेश आया और श्वासें उष्णतर होने-लगीं
अवलोकिता उसकी सभी वह शीघ्र कोमलता भगी।
दृग-में अरुणिमा-छा-गई अपार से जमने लगे
लक्षण प्रगट थे क्रोध-के कारुण्य के ढलने-लगे।
रवि-की प्रखरता-में सभी शशि-सौम्य परिगत-हो गया
उस नागिनी-के सम हुई जिसका सु-फन मणि-खो गया।
अम्बर खिसक-सा पा गया जाना नहीं इसने उसे,
निज वेष-भूषा ध्यान रहता क्रोध-में कब है किसे।
उस-काल केशों-बीच उसका रक्त-मुख यों चमकता,
रवि प्रात का ज्यों श्याम-घन-के पटल-में हो दमकता।
निज बोल में हँसी-सदृश जो अमृत पहले घोलती
अब भी वही यम-कोप सी अपभीत होकर बोलती।
वह ईश की थी प्रेरणा सद्धर्म की या शक्ति थी,
आर्य्यबला-का क्रोध था, सु-पुनीत या पति भक्ति थी।
हा, हा, न कोई लोक-में क्या-भाव है एमा-वशी
होकर कुपथ-गामी यहाँ, ये देव जो पाप धर्मी।
जो दण्ड इनको दे इन्हें, ये फिर न जो ऐसा-करें,
कामुक-हुए तनया किसी-की फिर न जो ऐसे-हरें।
सुनते न थे, मैं प्रार्थना हूँ कर चुकी इनसे घनी
कोई मिली थी किन्तु, ये-भी आन मानेंगे तनी।
रे पातकी ! देवी अहल्या-सी, तुम्हीं ने भ्रष्ट की
फिरनी न जाने, साध्वियों-की आबरू है नष्ट की।

कब देखकर सौन्दर्य तुम निज-पर नियन्त्रण रख-सके
है खेद अब तक भी न जो तुम हाय ! छल पथ-से थके।
ठग-कर निरीह दधीचि को फिर भी नहीं लज्जित हुए,
जो आज भोली-बालिका छलनार्थ यों सज्जित-हुए।
साक्षी तुम्हारी-दे रहे सब नभ ये उस रात-की
फिर भी न अपनी आदत हा ! तुम तज-सके उत्पात की।
ये क्रूर यदि यम ! तो न क्यों तुम क्रूर-सम्मुख डट-सके
कैसे तुम्हारे महिष-के सब शृङ्ग रण-में कट-सके।
आगे बढ़ाकर प्राण तब अब क्रूर-बनकर हो-डटे
है सामने अबला अतः तुम आज तनकर हो डटे।
हे अनल ! क्या-तुम भूलते-हो जब गये हिम गिरि तले
शिव-को भसम करने अवसर बन स्वयं पर ही जले।
यह सर्वभुक्ता आज भी उसका ज्वलन्त प्रमाण है
रे ! धूम-का होना तुम्हारे दीप-की पहचान है।
हे वरुण ! तुमको याद होगा जब गये थे तुम छले
यह पाश उलटा पड़ गया था तब तुम्हारे ही गले।
स्थिरता तुम्हारी आज की थी उस-समय रण-में कहाँ
आती न अब भी लाज तुमको पापियो ! बैठे यहाँ।
मैं प्राण तजती हूँ अभी पर वचन तज-सकती नहीं
अब एक-पति मति-हीन सुर फिर भूल भज सकती नहीं।
पीछे-मरूँगी किन्तु पहले शाप मैं-दूँगी तुम्हें
कामी-यमी स जो तुम्हारे मुख पुते कीर्ते-हमें।
तुम हो पिता मैं हूँ सुता जाना सदा मैंने यही
हाँ हाँ पिता के भी पिता माना सदा मैंने यही।
तुम आज यों अपनी सुता-से ब्याह करना चाहते
धर पर कपट का रूप मुझको आज हरना चाहते।
यदि तुम सफल सक्षम हुए तो विश्व यह जल-जायगा
दमरत्न भी समरो ! तुम्हारा त्याग-से गल जायगा।

निषेध को सब भय-के यदि कण्ठ-में माला-पड़े
तो, भस्म हो जावे अधम वह क्षार बन नभ-में उड़े।
नभ-में न रवि शशि रह सकें वह क्षार लगने-से सभी
मधुता-महत्ता विगत-हो छा-जाय ऐसा भ्रम अभी।
जब पिता ही पति-बन गये तब क्या-धरा रह पायगी
हा हा पुनीता भूमि कैसे ! पाप यह सह-पायगी।
ब्रह्माण्ड जल-कर राख होगा सोच सब उलटे बहें
मर जाँय पर, यह वसुमता क्या-हम मनुज-होकर सहें।
हे राम ! यह दुष्कृत्य मुझसे ही कराना था तुम्हें
भव-भार खुद निज शीश-पर मुझसे धराना था तुम्हें।
मैं क्या-करूँ जगदीश ! यदि इच्छा तुम्हारी है यही
पर समझलो, कोई तुम्हारा नाम अब लेगा नहीं।
कहती हुई ऐसी मरणमाला लिए आगे-बढ़ी,
मानों बुभुक्षित सिंहनी, पा भोज्य निज गृह-से कढ़ी।
हिलने लगे फण शेष के कम्पायमान धरा हुई
विधि, विष्णु, और महेश को कुछ अकथनीय त्वरा-हुई।
दिग्गज कँपे रवि स्तब्ध थे शंकित-हुए भयभीत-से,
कल्याण उन सब को बँधा अपना, सती-की प्रीत-से।
डाली तभी उसने गले में एक नस के सब महा—
देखा सभी ने उस समय था एक वह कौतुक-महा।
वर-माल-से शोभित-हुए बैठे नियमपति नभ यहाँ,
चारों अमर बैठे प्रकृत है यह अनोखा छल कहाँ।
सब ने मुख-से जय सती, जय-जय-सती निकला तभी
अवलोकते सुर-ज्योति-को होकर विमोहित जन-सभी।
उठ अथ-से देवेन्द्र ने कर शोभना-शिर-पर धरा,
बोले सुहाग रहे सुखे ! अक्षुण्ण और हरा-भरा।
उज्ज्वल स्व-मुख तुमने किया, निज शक्ति दिखलाकर नयी,
सौ बार तुमको धन्य ! पति भक्ते ! शुभे ! तेजोमयी।

बस प्राप्त-कर तुम-सी सती-का टिक-रहा संसार है
रवि सूर्य भू, नक्षत्र-गण का भी यही आधार-है।
है धन्य धर्म्मावतं तुमसी प्राप्त-कर सदमा-सुता
निज सिर न क्यों ऊँचा-करेगा गर्व-से तेरा पिता।
तुम काय में नह ! कभी सुर विघ्न करते हैं नहीं
सोयी-हुई सी शक्ति-को हम सजग आ-करते कहीं।
जिस दिन सुना हमने कि तुम निषधेश को हो वर चुकी
परिणत न था वह हृदय-में संकल्प तो पर कर चुकी।
इच्छा-जगी तब-देखने की, इस तुम्हारी शक्ति-को,
आदर्श समझें विश्व-नारी जो इसी पति भक्ति को।
आच्छन्न हो अब तिमिर तब आवर्त यह आलोक हो
निज व्रत-सभी पूरा करें, कुल-दैन्य-हो, या शोक-हो।
जो मार्ग तुम दिखला चुकी उस-पर सभी चलती-रहें,
इस शक्ति-से बाधा भयानक विश्व-की जलती-रहें।
वह दिव्य सावित्री प्रदर्शित पथ पुराना हो चला
अब इसलिए भद्र ! तुम्हें-हमने-यहाँ-फिर आ-छला।
तुमने किया वह पथ नया तुम-हो रमणियों-में रमा
कटु-वचन जो तुमने कहे वे कर-चुके हम सब क्षमा।
अब माँगलो तुम और कुछ, देना तुम्हें हम चाहते
जय जय सती जय जय सती जय जय सुते जय जय सुते !
तेजोमयी वह शक्ति थी कमनीय देवों-की प्रभा,
अवलोकती जिसको रही चित्रांकिता-सी सब सभा।
अनजान-में ही सब सभासद मुग्ध-हो अब कह-उठे
जय जय अमर, जय जय अमर! जय-जय-सती जय सुव्रते !
पावस-नदी मर्याद-तज ज्यों बह रही हो वेग-से
थी भरतना भैमी लड़ी स्यों-दे-रही आवेग-से।
अब बाढ़ थी वह शान्त, सरिता कूल-में फिर आ-गई
फिर से मनोरम-मृदुलता, उसके वदन-पर छा-गई।

"जय देव जय देवेन्द्र हे, जय जय पिता करुणा-निधे !
जय लोक पालक! दीन रक्षक ! सौख्य प्रद ! पावन विधे !
कहती-हुई मैंमी झुकी क्रम-से सुरोंके सामने
पर, छू न पाई चरण पहले-ही लगे सुर-थामने।
फिर उठ नियमपति भी सुरोंके पदोंमें क्रम से लगे
बैठे हुए निज ठौर दर्शक चकित थे भ्रम-स पगे।
गूँजा किया फिर देर तक जय देव जय करुणा निधे !
जय लोक पालक ! दीन रक्षक ! सौख्य प्रद ! पावन विधे !
"जब सामने हैं देव तो सब याचना निरपेक्ष है
आनन्द मन-में भर रहा प्रभु-का मनोहर वेश है।
आदेश जब प्रभु दे रहे तो माँगना ही इष्ट है
हे देव ! है यह प्रार्थना ऐसा परीक्षण क्लिष्ट है।
दें वारतर यह वर हे प्रभु ! लोक में फिर हो नहीं
कोई सती ऐसी विधा-में फिर न पड़ पाय कहीं।
सिंदूर मेरी माँग-का प्रभु, मृत्यु-तक साथी रहे
ये शब्द उसने सकुचित स्वर-में तनिक रुक रुक कहे।
सुर-सघ की वाणी तभी थी 'एवमस्तु' वहाँ हुई
कुछ काल पहले की उदासी, सभा की सहसा खुई।
यदि धर्म पर देवी, तुम्हारे आक्रमण कोई करे,
तो देखने-भर-से तुम्हारे हे सती ! वह जल-मरे।
जब तक रहेंगे सूर्य शशि तब तक अमर हो यह कथा
जिससे सदा सतियाँ करेंगी विगत अपनी-दुर्व्यथा।
यह लोक हे भद्रे ! तुम्हारे गीत यश के गायगा
पथ भ्रष्ट नारी-गण तुम्हें, कर याद सत्-पथ पायगा।
क्रम-से अमर-गण ने कहा—फिर भीम-नृप भी आ-गये
करके प्रणति मगल-मयी उनसे शुभाशिष पा-गये।
फिर देखते ही देखते, सब देव अन्तर्धान थे,
होने लगे मगल सभी करते सती-कुल गान थे।

तब चौंककर देवेन्द्र बोले, मित्र ! तुम क्या कह गये,
अविवेकिता के सिन्धु-में तुम मूढ़ होकर बह गये।
हम थे गये केवल वहाँ उसके परीक्षण-के लिए,
हित सोचकर सब लोक का, सन्मार्ग-दर्शन के लिए।
वह है सती साध्वी परम हम देख सब कुछ ही चुके
होकर विवश भीमात्मजा के सामने हम सब झुके।
सुख पूर्ण हो उसको यही है आज केवल-कामना
दुस्साध्य उसके सुपथ से है उस सती को टालना।
छोड़ो सखा यह व्यर्थ का पचड़ा चलो वापस चलो
समुचित न है यह वीर ! जो तुम सुमन मदन-पर तुलो।
उसके सुयश को हो बढ़ायेगा उसे जो कष्ट हो
अवलोक कर उस सिंहनी को स्वयं ही दुख नष्ट हो।
रखना कनक को ताप-में गुण-दान करता है यथा
दृढ़ नियमी को ताप भी यश मान से भरता तथा।
रे ! सामने उसके न कुछ भी वश चलने पायगा
यदि कोप उसको आ-गया ब्रह्माण्ड ही जल जायगा।

"मैं कर चुका प्रण प्रसंग वह कुछ समय निज पति-से रहे
पूरी प्रतिज्ञा अब करूँ यों वचन तब कलि ने कहे।
देता न कुछ भी कठिन उसको दुःख, जिसमें दोष है,
सम खेलते हैं द्यूत, बस इससे मुझे सन्तोष है।
वह श्रेष्ठ गेही है प्रभो ! मैं जानता हूँ यह सभी
आदर्श, सौम्य सु-सभ्य है मैं मानता हूँ यह सभी।
बान्धव-विरोध परन्तु है, दुष्णाम ऐसा लोक-में
करके पतन जो उन्नतों-को भी असाता-शोक में।
ऐसा करूँगा यत्न मैं कुछ समय तो लग-जायगा
पर वन वियोगी कुछ समय तक वह युगल दुःख पायगा।

नल-बन्धु-पुष्कर का बनूंगा, मित्र में जाकर वहाँ,
तब देव के अपमान का फल दूं, समय पाकर जहाँ।
कुछ समय-में दुस्संग मेरा बीज वह बो-जायगा
करना न जो मुझको पड़े सब कुछ स्वयं-ही जायगा।
जाना न फिर मुझको पड़ेगा भीमजा-के सामने
देवेन्द्र फिर जाते हुए-कलि-का लगे कर थामने।

बहुत प्रकार उसे समझाया किन्तु नहीं वह माना
दुष्ट-प्रकृति यह कभी न माने जब विबुधों ने जाना।
कहा-उसे यों देख सती-को बस-भी निर्बल होगा,
बिगड़ न उसका सके कहीं कुछ, यश अत्युज्ज्वल होगा।

वचन यों कह देव-गये सभी
स्व-पथ-में कलि भी चलते बने
प्रकृति है यह दुष्ट-समूह-की,
सुपथ-में बह शूल बने-रहे।

अष्टम सर्ग

धन्य हो कुण्डिनपुरी तुम धन्य
भूमितल पर हो प्रथम तुम गण्य।
भीम नृप का प्राप्त कर तुम स्नेह
भर रहीं धन धान्य से निज गेह।
और देकर रत्न लोक ललाम—
कर चुकी हो अमर अपना नाम।
आज तुम क्यों सज रही हो पूर्ण
दप कर अमरावती का चूर्ण।
द्वार कदली जन्य हैं सब ठौर
दीखते सब पौर हर्ष विभोर।
स्वागतार्थ समागतों के द्वार—
समुत्सुक हैं पहन वन्दनवार।
रँग बिरंगे धार तन पर वस्त्र—
घूमती जन भीड़ क्यों सर्वत्र।
मोह समझे युगल धारा भिन्न—
बह रहीं हो जौम आज अभिन्न।
द उन्हें सम मह गमन निष्काम,
बनोगी तुम स्वयं सगम धाम।
इसलिए ही तो तुम्हें यह हर्ष
सौख्य दाता है स्वयं उत्कर्ष।

उधर वे गज पर चढ़े नियपेन—
आ रहे अभिराम धर वर वेश।

शोभती है वक्ष-पर जयमाल,
दीप्त रवि-सम कान्ति से है भाल।
कर रहा विधु-मुख सुधामय वृष्टि,
और निज पर नेत्र-खञ्जन-सृष्टि।
मुकुट को धारण किये है भाल,
स्कन्ध-पर कच, फहरते से व्याल।
चमचमाते वस्त्र दिव्य सु-रूप
लग रहे देवेन्द्र से हैं भूप।
अन्य गज पर अनुज हैं उपविष्ट,
दीख पड़ते शान्त शिष्ट वरिष्ठ।
और भी अगणित नृपति थे संग—
स्यन्दन-स्थित आ रहे स-उमङ्ग।
एक से है एक वेश विचित्र,
बज रहे बहु भाँति के वादित्र।
हैं सुसज्जित उन सभी के यान,
हो रहा अवलोक उनका भान—
स्वर्ग से आ सुर-सहित सुर राज—
बस रहे कुण्डिनपुरी-में आज।
और अगणित नागरिक हैं संग,
हा रहे अर्पित परस्पर अङ्ग।
देखने को झुक पड़े नर नारि—
निषधपति वदनेन्दु की उनिहार।
काम अपने बीच-ही में थाम—
चढ़ गई नर की छतों-पर वाम।
आँजती काजल दृगों में एक,
किन्तु आया शीघ्र वर को देख।
चल पड़ी वह दर्शनोत्सुक दौड़
एक-दृग अञ्जन रहित ही छोड़।

स्रस्त वसना ही कहीं कुछ नारि—
देखती थीं लोल कुछ कुछ द्वार।
थीं झरोखों में वधू आसीन
मग्न सलिल मानों बनी थे मीन।
बने वातायन कमल के तुल्य—
और उनमें कृष्ण दृग बहुमूल्य—
घूमते थे अलि सदृश स्वच्छन्द—
पी रहे नल-रूप-मधु-मकरन्द।
कह उठी अवलोक नल को एक
हे सखी! यह रूप सुन्दर वेश।
हो पुनर्भव आ गया क्या काम
भीमजा के अर्थ धर नल नाम।
छवि अनोखी नेत्रहारी कान्ति
हो रहा अवलोक कर मन शान्त।
भीमजा पूजा करे ये पाद
मिल गया नृप फल उसे अविवाद।
क्यों न इस पर प्राण दूँगी वार
विश्व के सौन्दर्य का यह सार।
धन्य भगिनी सुन्दरी तुम धन्य
हैं किये कितने न तूने पुण्य।
जो मिली सौन्दर्य गुण की राशि
सफल जप तप व्रत सुविद्याभ्यास।
मान्य नल का भी न पर कुछ अल्प
फल न इसके पुण्य का भी स्वल्प।
प्राप्त जो जग-सुन्दरी प्रिय-वाम
विश्व-वामा गुण-गणा की धाम।
एक से बढ़ एक सुन्दर रूप
एक से बढ़ एक दिव्य अनूप।

पा गये प्रिय कौमुदी को इन्दु,
मिल गया प्रियतम, नदी को सिन्धु।
कर रहे जन मुग्ध हो गुण-गान
और दृग-से छवि-सुधा का पान।
भाग्य अपने नृपति का भी धन्य,
हुआ सम्बन्धी कि यह नृप-गण्य।
ठीक मैत्री कर चुकी है ठीक,
सुर विमुख वह वर चुकी है ठीक।
सुलभ था यह कब सुरों में रूप
और इनसा कौन ! भूप अनूप।
नारियों में भीमजा ज्यों श्रेष्ठ,
नरों में निषधेश हैं त्यों श्रेष्ठ।
छिड़ रहा सर्वत्र यह आख्यान,
आ-गया तब तक नृपौक महान्।
दीप्त-सा था रमणियों से द्वार,
कर रहीं थीं, सुखद मङ्गलचार।
सिर-धरे जल-घट, खड़ी थीं नारि,
पुष्प-माला वृष्टि-रत सुकुमारि।
उतर गज से वर चले उस ठौर,
घिर रहे चहुँ ओर उनके पौर।
मधुर गीतों में सुधा सी घोल,
कर रहीं स्वागत, स्त्रियाँ जी खोल।
चल पड़े वर को लिवाकर दास
उड़ रही मादक मधुर शुचि बास।
मणि-खचित आसन बिछा बहुमूल्य
निषधपति बैठे, रमापति-तुल्य।
कर-उठे द्विज साम का मधु-गान
उधर छाड़ी तरुणियों ने तान।

अस्त वसना ही कहीं कुछ नारि—
देखती थी खोल कुछ कुछ द्वार।
थीं झरोखों में वधू आसीन,
नभ सलिल मानों बनी वे मीन।
बने वातायन कमल के तुल्य—
और उनमें कृष्ण दृग बहुमूल्य—
घूमते थे अलि सदृश स्वच्छन्द—
पी रहे नल-रूप-मधु-मकरन्द।
कह उठी अवलोक नल को एक
हे सखी! यह रूप सुन्दर देख।
हो पुनर्भव आ गया क्या काम
भीमजा के अर्थ धर नल नाम।
छवि अनोखी नेत्रहारी कान्ति
हो रहा अवलोक कर मन शान्त।
भीमजा पूजा करे ये पाद
मिल गया तप फल उसे अविवाद।
क्यों न इन पर प्राण देगी वार
विश्व के सौन्दर्य का यह सार।
धन्य भैमी सुन्दरी तुम धन्य
हैं किये कितने न तूने पुण्य।
जो मिली सौन्दर्य गुण की राशि
सफल जप तप व्रत सुविद्याभ्यास।
भाग्य नल का भी न पर कुछ अल्प
फल न इनके पुण्य का भी स्वल्प।
प्राप्त जो जग-सुन्दरी प्रिय-वाम
विश्व शोभा सब-गुणा की धाम।
एक से बढ़ एक सुन्दर रूप
एक न बढ़ पर निम्न अनूप।

पा गये प्रिय - कौमुदी को इन्दु,
मिल गया प्रियतम, नदी को सिन्धु।
कर रहे जन मुग्ध हो गुण - गान
और दृग-से छवि-सुधा का पान।
भाग्य अपने नृपति का भी धन्य,
हुआ सम्बन्धी कि यह नृप-गण्य।
ठीक मैत्री कर चुकी है ठीक,
सुर-विमुख वह वर चुकी है ठीक।
सुलभ था यह कब सुरों में रूप,
और इसका कौन! भूप अनूप।
नारियों में भीमजा ज्यों श्रेष्ठ,
नरों में निषधेश है त्यों श्रेष्ठ।
छिड़ रहा सर्वत्र यह आख्यान,
आ-गया तब तक नृपौक महान्।
दीप्त-सा था रमणियों से द्वार,
कर रहीं थीं सुखद मङ्गलचार।
सिर-धरे जल-घट, खड़ी थीं नारि,
पुष्प-माला वृष्टि-रत सुकुमारि।
उतर गज से वर चले उस ठौर,
घिर रहे चहुँ ओर उनके पौर।
मधुर गीतों में सुधा-सी घोल,
कर रहीं स्वागत, स्त्रियाँ जी खोल।
चल पड़े वर को लिवाकर वास
उड़ रही मादक मधुर शुचि बास।
मणि-खचित आसन बिछा बहुमूल्य
निषधपति बैठे रमापति-तुल्य।
कर-उठे द्विज साम का मधु-गान,
उधर छोड़ी तरुणियों ने तान।

पुष्प विकसित को यथा सत्कार—
अर्घ्य पूजा के सयत्न सँवार—
और पहुँचाकर निकट सुर-मूर्ति,
समझा अपने सुकृत की पूर्ति।
त्यों सुसज्जित भीमजा का हाथ—
पकड़कर बहु सेविकायें साथ—
कर गईं वर के निकट आसीन,
चन्द्रिका थी स्वयं जिससे हीन।
किया फिर वर का वधू ने मान
पाद्य आचमनीय अर्घ्य प्रदान।
और दे मधुपर्क आसन-हेतु—
किया अथ सादर समर्पित सेतु।
सुर अराधन पूर्ण कर उस काल
प्रज्वलित की द्विजों ने मख ज्वाल।
वर वधू देते उसे प्रिय हव्य
प्रज्वलित था अनल सा प्रिय द्रव्य।
उठ रहा उससे सुवासित धूम
घिर गया नभ में असित सा भूम।
कर गया पर वह वधू दृग लाल—
और स्वर्णिम सुन्दरी का भाल।
हो उठे कुसुमाभरण कुछ म्लान
दमकते आरक्त होकर कान।
था प्रगट मुख पर सुखद आरण्य,
था प्रथित वह ताप में तारुण्य।
भ्रम हुआ मानों मुकुर में उजास—
रहा हो प्रतिबिम्ब अपना हास।
दृगों से अञ्जन बहा उस काल
([illegible])

रोकते उसको परन्तु कपोल
छिटक आय वदन पर कुछ श्रोल।
मृग-सहित प्रकटित हुआ निशिनाथ
पकड़कर द्विज ने वधू का हाथ—
दिया अभ्युत्थान वर के संग
स्फुरित होते युगल के शुभ अङ्ग।
घूमते थे अनल के सब ओर—
वर वधू मिल साथ हर्ष विभोर।
पकड़ते जब वर, वधू का पाणि
खेलती सब स्वमुख पर मुस्कान।
श्रौर होते हृष्ट तन के रोम
दौड़ता सा रक्त में रस सोम।
उधर शमी-पाणि-पल्लव स्विन्न—
हृप से होता न थी उद्विग्न।
फिर हुआ आयुष्य लाजा होम
ध्रुव थे परितुष्ट बिहँसा व्योम।
खिल रहे थे पुष्प से सुखात्र
देखकर युग- पत्र से एकत्र।
प्रण किये प्रेमार्थ युग न थोर,
हुविभुक साक्षी, अमर थे श्रौर।
मुदित वर ने प्रिया कधों बोध—
दी भव्य मांगल्य रोली सीध।
अरुण का सा था उदय तम पार,
प्रेम का था अभ्युदय गम्भीर।
पाणि-पीड़न हो गया यों पूर्ण
तब उठे युग और-सब भी तूर्ण।
दिया फिर अर्पने, उन्हें सह-मान—
द्रव्य, मणि माणिक्य आदि प्रदान।

आ-गये तब तक विहँसते भीम,
साथ में ले देय द्रव्य असीम।
मुदित मन हो पूर्णतः निःस्वार्थ,
दे दिया वह अर्थ सब दमयार्थ।
और दे सब आगतों को मान,
मानकर आभार कर गुण-गान—
दी विदा अब सब, करें विश्राम
पूर्ण यह सब की कृपा से काम।
पाणि-पल्लव प्रयसी का थाम—
वर चले बैठीं जहाँ वह वाम।
उठी स्वागत हेतु वे सविनोद
बढ़ रहा अन्तःपुरी में मोद।
उधर मधुपान में सब व्यस्त—
हो रहे थे भूप अभिलाषास्त।
इधर सुन अपने सुयश के स्तोत्र
पी-रहे पीयूष-नद वर-श्रोत्र।
कर रहीं थीं तरुणियाँ कल केलि
भर रहीं थीं रमणियाँ रँग रेलि।
हंसनी का देख फँसा जाल,
फँस गया री! ढीठ आप मराल।"
'राजहंसी हंस के थी योग्य
पा लिया युग ने युगम का भोग्य।"
या विहँसती षोडशी की पाँति—
सिद्ध थी प्रश्नोत्तरी इस भाँति।
चल रहीं मन-मोहकारी बात,
कब ढली पर, मधु क्षणों में रात!

दिवस अग्रिम भीम ने कर प्यार।
कहा-नल से वत्स ! दिन दो चार—
और ठहरो समझ कर निज गेह
प्राप्त हो दमनादिकों का स्नेह।
तात ! जाना था यदपि अनिवार्य
पूज्य का पर वचन शिरधार्य।'
मान आग्रह रुक गये निषधेश
और सब आगत गये निज देश।

योग्य सुन्दर हैं गुणज्ञ अमत्त
नृपति नल के अनुज पुष्कर दत्त।
विदर्भाधिप ने उचित ही मान
योग्य अपनी आत्मजा के जान।
कुमुदनी सा सुखद उसका नाम
बहन के ही थी सदश गुण-धाम।
कर दिया युग का पवित्र विवाह,
हो गये निश्चिन्त तब नरनाह।
विदित मैत्री केशिनी का प्रेम,
साथ रहने में युगल का क्षेम—
जानकर नृप भीम ने स-उमङ्ग,
कण नामक नल सखा के संग—
किया विदुषी का विवाह पुनीत,
प्राप्त कर यश, सिद्ध से ये गीत।
ठहर कर कुछ दिन वहाँ निषधेश—
चले, सानुज सैन्य-युत निज-देश।
गुरु जनों को पूर्ण दे सत्कार,
प्राप्त उनसे स्वस्तियुत कर प्यार।

इधर भामी सहित होकर खिन्न,
भीमजा होने लगी गृह - भिन्न।
विदा उसको दे रही थी अम्ब
मिल गया सति के ! सुखद अवलम्ब।
हो रहा पर शोक व्याकुल चित्त
जा रहा है गोद का जो वित्त।
द्वार पर सज्जित खड़ा था यान
भीमजा बैठी उसी में म्लान।
घुट रहा था मन मन योपाय
टूट रहा था सकल परिजन हाय !
पर दमन दम दान्त ने दे तोष
शान्त भगिनी का किया आक्रोश।
ले यहाँ वह विजय-लक्ष्मी साथ
आ-गये निज प्रान्त में नरनाथ।
उड़ रहे जय जय विजय के केतु
थी समुत्सुक प्रजा दर्शन-हेतु।
सुन चुके शुभ वृत्त यह सब पूर्व
भेंट भूपति को मिली कि अपूर्व।
मान उनको प्रतिपदा का चन्द्र—
देखते जन निर्निमेष अतन्द्र।
राजमहिषी सहित कर नृप-मान
किया सब ने प्रगट प्रेम महान्।
राजमाता का यहाँ - वह मोद
भर गई थी आज दूनी गोद।
कर रहीं थीं आरती, कुछ दूर
द्रव्य दीना में बँटा भरपूर।
लिया वधुओं को, दिये आशीष—
अचल हो सौभाग्य इनका ईश !

राज्य में उत्सव हुए सर्वत्र
हो रहे कल्याणकारी सब।
वृद्ध विश्राम नरेन्द्र-मुख-विश्रान्त—
धर चुके फिर राज्य भार नितान्त।
सौंपकर नृप का उन्हीं को भार
सब अमात्य हुए प्रसन्न अपार।
दे रही थी भूमि अति धन धान्य
पुज रहे सर्वत्र ही अप मान्य।
मुग्ध थे जन देख भूप चरित्र
समझते उनको सभी निज मित्र।
मेदिनी का सौख्य मैत्री-सग—
छूटते नृप प्रेम का था रग।
सचिव भारी मित्र का सब काम—
कर रहीं थी भीमजा निष्काम।
थे मुदित सारे प्रजा परिवार
हो रहे सर्वत्र मंगलचार।
आ-रहे थे गगन में आदित्य
विभव भव का दे नियम से नित्य—
पहुँच जाते साँझ-कर निज गेह—
जोड़ती मग से निशा फिर स्नेह।
ठहर वह भी चञ्चला कुछ याम
रोक जग के काम, दे विश्राम—
चली जाती सूय-सम ही गेह,
और जग से फिर बढ़ी रवि-स्नेह।
हो रहा इस भाँति ही गत काल,
विगत थे कुछ शीत वर्षा-ज्वाल।
मान दमयन्ती, स्व-मन में मोद,
काल-क्षपण कर रही सविनोद।

है इसे यह स्वर्ण-लतिका योग
भाग्य-में उसके कहाँ ये भोग।
जानता है मृग न ज्यों निज गन्ध—
घूमता दिन रात हो मद-अन्ध।
त्यों-तुम्हें निज रूप छवि का ज्ञान—
है न कुछ भी है सुमुखि ! अनजान।
चल रहा था हास्य-पूर्ण विनोद
बढ़ रहा था दम्पती का मोद।
दिवस अग्रिम राज्य का सब भार—
निज अमात्यों के करों-पर धार।
साथ ले कुछ सैन्य कुछ सामान
किया दम्पति ने भ्रमण प्रस्थान।
दिव्य से रथ में हुए उपविष्ट
वे विदा उनको फिरे सब शिष्ट।
हो न महिषी को कहीं कुछ क्लेश
शनै रथ चलवा रहे निषधेश।
देखते निज प्रजा-के आनन्द
वे चले जाते स्वयम सानन्द।
राष्ट्र - का वैभव विलोक अपार,
हर्ष-का कुछ था न पारावार।
आ गया चलते हुए वन प्रान्त
स्वर्ग-की सी दिव्य जिसकी शान्ति।
सोहता था रथ पयोद-समान
जल-सदृश उपविष्ट नृप मतिमान।
तड़ित-सी महिषी चमकती संग,
मोद से भी मोर-गण मति भंग।
नाचते थे निज-प्रिया-के सङ्ग,
थीं भरीं नृप स्वागताय उमङ्ग।

दे रहे छाया समुन्नत वृक्ष
झूमते विनयावनत से ऋक्ष।
शिविर-हित सुन्दर सुखद-सा स्थान—
खोजते नृप-नेत्र - पद्म-समान।
देख सुन्दर एक सर - का तीर
रुके दम्पति साथ ही सब वीर।
भवन-सम तन गये शुभ्र वितान
पुर सदृश शोभित हुआ वह स्थान।
कर वहाँ सब युक्ति युक्त प्रबन्ध
श्रम विगत करने लगे सानन्द।

जा रहे थे रवि स्व-गृह की ओर
छू रहा था तम क्षितिज के छोर।
विक्रमी नृप का श्रवण कर अन्त—
सिर उठाते दस्यु ज्यों अत्यन्त।
गगन-में सर्वत्र त्यों ग्रह-माल—
दमदमाती थी उठाकर भाल।
किन्तु कर निष्प्रभ सभी को धीर—
वह सुधाधर हँस - पड़ा सम वीर।
श्वेत-सी चादर मही पर डाल—
थम रहा वृग-मन-विमोहन काल।
शिविर में भी जगमगाते दीप,
चले तब रानी सहित अवनीप।
रुक गये जाकर सरोवर-तीर,
चमकते जल-कण सकल ज्यों-हीर।
प्राप्त थे अवसर जिन्हें अनुकूल,
गध से मद भी खिले वे फूल।

नाथ ! जल-में इन्दु का प्रतिबिम्ब—
बन रहा कैसा विभा का स्तूप ।
हर रहा मन को प्रभा से खींच
कालिमा भी सुखद इसके बीच ।'
"प्रिये ! मुख छवि से तुम्हारी आज—
हो गया श्री-हीन यह निशिराज ।
प्राप्ति-हित उस सुप्त-छवि की हाय
एक स ये दो हुए निरुपाय ।
तदपि निष्प्रभ ही स्वयं को देख—
शशि-वदन पर शोक की यह रेख—
कालिमा बनकर विराजी आज
है मलिनता ही उदासी-साज ।
हँस पड़े शशि से महा - नरनाथ,
थी लता भी विमल पुष्पित साथ ।
भाव ही बनकर प्रकृत कुसुम—
बिछ रहा शोभन सरोवर कूल ।
कर विपिन का प्रान्त रम्य सनाथ
दम्पती बैठे उसी पर साथ ।
हो रहा चाञ्चल्य सर का सुप्त
सो रहे जल जीव ये सब गुप्त ।
छा - रही उस पर कहीं शैवाल,
सोहती जिसमें कुमुदनी - माल ।
'प्रकृति नटि का मन्द है यह नृत्य,
रुक रहे सब जलधरों के कृत्य ।
चन्द्रिका की धवल चादर तान
हो रहा है सुप्त विश्व महान ।
'समझ पाई हो न तुम यह सार
सब यथावत् चल रहा संसार ।

प्रकृति को क्षण-भर न पड़ती चैन,
मूँदती है कब भला यह नैन!
गन्ध लेकर आ-रहा यह वायु,
बीतती क्षण-क्षण विभक्ता आयु।
बदलता प्रतिपल सकल नभ नील
नित्य परिवर्तन जगत का शील।
उधर वह देखो गगन में चन्द्र—
कर रहा निज काय पूर्ण अतन्द्र।
बदलता प्रति पल सलिल का ढंग,
बदलता प्रति-श्वास मुख का रंग।
दे-रही सबको प्रकृति उपदेश
व्यर्थ मत खोओ! समय का लेश।
देह पाकर लक्ष्य हो बस कर्म,
कर्म ही तनुधारियों का धर्म।
कर्म उत्तम है, फलाशा हीन,
कर्म फल समझो। विधाताधीन।
कहा देवी ने बताओ आर्य!
कौन है करणीय उत्तम कार्य!
प्रियतमे! अच्छा सुनो यह देह—
अमर आत्मा का बना है गेह।
देह का कर्त्ता वही है ईश,
जो अलक्ष्य, अनन्त लोकाधीश।
देह यह व्यय हो उसी के अर्थ,
अन्यथा तनु-प्राप्ति समझो व्यर्थ।
ईश सेवा, कृत्य मान महान्,
"किन्तु है वह क्या-कहाँ यह ज्ञान।"
"हाँ-सुनो वह क्या-कहाँ यह बात,
स्वयं है वह अजर अमराजात।

किन्तु यह जग है उसी का रूप,
व्याप्त कण-कण में अद्भुत अनूप।
सर्वव्यापक यों उसी का नाम
वह स्वयं कर्ता बना निष्काम।
अब उसी का रूप जीव अशेष
कहाँ ! उसकी प्राप्ति-में सब क्लेश।
ईश-सेवा का अतः प्रिय नाम !
'लोक-सेवा' है सुमार्जित नाम।
जीव हैं सारे दया के पात्र
हो उन्हीं के हेतु व्यय यह गात्र।
बुद्धि से सोचो सतत कल्याण—
यह सुखी जो रहे विश्व महान्।
हो कहीं पर यदि दुखों की सृष्टि
तो करे जिह्वा सुधामय वृष्टि।
दीन दुखियों को बँधावे धीर,
कायरों को भी बनावे वीर।
हृदय में सु-स्नेह हो अनिवार्य—
सदयता अपनी करे अभिलाष।
भुज उठावें दीन रक्षा भार
शुभे ! उनका क्षमा हो आधार।
और देखें नेत्र करके प्यार—
कीट - में भी ईश की उनिहार।
पड़े कानों में कहीं स्वर आर्त
तो वहाँ पद पहुँच जाँय परार्थ।
जो न सह सकते उन्हीं का भार—
कमर मे अविलम्ब निज-पर धार।
जन्म - धामी मान का हो ध्यान
और सब आश्रित, गुणी सम्मान।

बन्धु हो उनका कि जो अभ्रात,
पुत्र उनका जो असुत हों मात।
पा-सकें आश्रय कि आश्रय-हीन,
जी सकें सानन्द जग में दीन।
आत्मवत् ही हो सभी का ध्यान
हो न ऐसा स्वार्थ जो पर हानि।
है सुमुखि! यह ईश सेवा - रूप
क्योंकि है यह विश्व ईश स्वरूप।
हट गया मानों सभी भ्रम जाल
तुष्ट रानी ने कहा तत्काल—
भेद सब आया समझ में नाथ!
लोक सेवा से कि हैं विभु प्राप्त।
चल रहे थे विविध सुखवार्तालाप
हँस रहे नभ-में कलाधर आप।
अर्ध रजनी का समागम जान,
और रानी - सौख्य का कर ध्यान।
सो गये आ शिविर मध्य निशंक,
चन्द्रिका से युक्त आप मयंक।
कर उठे प्रात विहग प्रिय गान
उठे दम्पति भी निशा गत जान।
बह रहा था शीत वायु सुमन्द—
साथ ले आह्लादकारी गन्ध।
कर चुके वे पूर्ण नित्य विधेय,
ईश-गुण गाये समुद फिर गेय।
रवि गगन में आ गये उस ओर
हो उठे अरविन्द हर्ष - विभोर।
हो - रहा जगमग अमेय अरण्य
स्व-कुसुमों का वेश माना धन्य।

चल पड़े थे भी प्रसन्न पदाति
देखने को रम्य वन का प्रात।
"नाथ! मुक्ता-सी चमकती ओस
चमन का बिखरा हुआ-सा कोष।"
'है प्रिये! यह नारि-मन दौर्बल्य
द्रवित हो बिखरा हृदय का शल्य।
समझ निशि विधु से स्वकीय-वियोग
और करके स्मरण बीते भोग
रो उठी बरसा गयी जल नेम
तब प्रिया बोली किये नत नेत्र।
क्या न रोया नाथ! निष्ठुर इन्दु,
क्या न उसके निकट दो जल बिन्दु।
प्रगट इससे तो हुआ यह भाव
सहृदया निशि निठुर है निशिराज।
पुरुष का गुण ही प्रिये! काठोर्य
क्योंकि उसमें वास करता धैर्य।
प्रकृति में जो है सरस अनुराग
वह प्रिये! सब नारियों का भाग।
इधर शतपुष्पी खिली यह सोम
पर न यह मादव्य तव मुख-सोम।
घिर रहे इस पर मुदित अलिवृन्द—
पी रहे पीयूष सा मकरन्द।
झूमकर अपना सभी अभिमान—
कर रहे मनिहर मधुरतम गान।
कुछ खिले कुछ अधखिले हैं पद्म
'नाथ! अलि का गुम गया वह धूम।
बिद्ध हो पीड़ित हुआ वह हाय!"
"प्रेम का है मूल्य यह निरुपाय।

कह उठीं तुम हाय ! दुःख विलोक
सहृदया को क्यों न हो पर शोक ।
विद्ध भी देखो, भ्रमर उस ठौर—
रट रहा है ढीठ सिद्ध कठोर ।
सुमन सेवम किन्तु अलि का देख—
क्यों खिची मुख पर कनकमय-रेख ।
हँस पड़े उन्मुक्त दोनों साथ
बढ़ चले नृप पकड़ भैमी हाथ ।
गन्ध से चाम्पेय की हो युक्त
वायु बहता आ रहा उन्मुक्त ।
हे प्रिय ! आगे चलो उस ठौर
फकती सी गन्ध चारों ओर—
हँस-रही जूही नवोढा तुल्य
गुणों का सत्कर्म ही है मूल्य ।
हरिण देखो, चर रहे कम वसि
इधर यह स्वच्छन्द विस्तृत वेमि—
लिपट कर तरु से गिरी है आप
छू सकेगा क्यों इसे अब ताप ।
'नाथ ! तोड़ूँ पुष्प मैं दो चार,
"प्रिय यों स्वार्थी बनेगा प्यार ।
सह सका सौन्दर्य किसका स्पर्श
दृष्टि का बस यह बढ़ाता हर्ष ।
वृक्ष-शाखा नम रही है झूम
वायु वाहक झूमते फल-फूल ।
वस्त्र उड़ते तदपि हैं श्रम-बिन्दु,
मद-सुधा बरसा-रहा पन्नेन्दु ।
इस स्फटिक सुन्दर शिला के पास—
बैठ जाओ बिछ रही मृदु घास ।

छू रहे अम्बर गगन को वृक्ष
खींचते हैं आप मन को वृक्ष।
करेगी छाया सखी का काम
धन्य होगी दे तुम्हें विश्राम।
कह सके ही थे कि सहसा हाथ—
धनुष पर पहुँचा शरे-के साथ।
प्रियतमे ! देखो उधर मृगराज—
आ रहा-सज क्रूर का सा साज।
दीन को यह मार खाता धृष्ट
निर्बलों को सर्वदा दे कष्ट।
उचित ही मैं दूँ इसे अब दण्ड
काल इसका आ-गया अब चण्ड।
सिहर दमयन्ती गई सुन काल'
ठीक से कर शीघ्र बिखरे बाल।
और यों कहने लगी सविनीत—
नाथ ! क्या होगी न यह अनरीति।
इस समय यह है अवश्य अदोष—
तुष्ट है अवलोक निज वन कोष।
मुड़ गया वह उधर लो यह जीत
कर गया स्वागत, निभायी रीति।
"पर सुनो, यह धनुष की टंकार—
सुन विजन, उसने भरी हुंकार।
धनुष रव सुन सोचता वह वीर,
आ-गया कोई धुरन्धर धीर।
इस लिए भू-भूम भर हुंकार—
वह चुनौती कर रहा स्वीकार !
है बड़प्पन में प्रिये ! यह दोष,
धन्य उन्नति में न उसको तोष !

समझ उस हुंकार को घन घोष
मोर कितना पा रहे-परितोष।
नाचते ग्रीवा किये हैं भग
मुग्धभावा वे प्रियायें सग।
पंखों में कितने भरे हैं रग,
देख होती मनुज मति तो दग।
लग रहे नीलम जड़े-से पक्ष
कुशलता यह प्रकृति की प्रत्यक्ष।
हे प्रकृति की तूलिके ! तू धन्य,
धन्य, तेरा काय-क्षेत्र अरण्य।
चलो ! अब तो कर चुकी विश्राम,
प्रीत देखो दिव्य-शोभा-धाम।
और देखो आ रहा वह ऋक्ष
इधर यह विकसित बकुल का वृक्ष—
कर रहा तुमको समर्पित पुष्प
श्रेष्ठ का क्षण-सग भी सुखमूल।
गन्ध इनसे उड़ रही सर्वत्र
कर-रहे नृप-भोग मानों सत्र।
मत्त रहा यह मुग्ध आप पराग
इष्ट इसको प्रिया-मद अनुराग।
सामने शाल्मलि-विपिन उस ओर,
छू-रही वह गिरि-शिखा नभ छोर।
भर महा यह पक्षियों-से गोद,
प्रगट करता वृद्ध वट यह मोद।
सभी तरु-वर-तुल्य अपना जान—
कर रहे निस्स्वार्थ छाया-दान।
तन रहे आकाश-में घन धीर,
बाँटते पर-हित, स्व-तन-धन वीर!

छू रहे बढ़कर गगन को वृक्ष
सींचते हैं आप मन को वृक्ष।
करेगी छाया सखी का काम
धन्य होगी दे तुम्हें विश्राम।
कह सके ही थे कि सहसा हाथ—
धनुष पर पहुँचा भरे के साथ।
प्रियतम ! देखो उधर, मृगराज—
आ रहा-सज धूर का सा साज।
दीन को यह मार खाता धृष्ट
निर्बलों को सवदा दे कष्ट।
उचित ही मैं दूं इसे अब दण्ड
काल इसका आ-गया अब चण्ड।
सिहर दमयन्ती गई सुन 'काल'
ठीक से कर शीघ्र बिखरे बाल।
और यों कहने लगी सविनीत—
नाथ ! क्या होगी न यह अनरीति।
इस समय यह है अवश्य अदोष—
तुष्ट है अवलोक निज वन-कोष।
मुड़ गया वह उधर, सो यह भीत
कर गया स्वागत निभायी रीति।
पर सुनो, यह धनुष की टंकार—
सुन जिसे, उसने भरी हुंकार।
धनुष रख सुन साधना वह वीर,
आ-गया कोई धुरन्धर धीर।
इस लिए भ्रू तान भर हुंकार—
वह चुनौती कर रहा स्वीकार !
है बड़प्पन में प्रिये ! यह दोष
मय उन्नति ग न उगको तोष !

समझ उस हुंकार को घन घोष
मोर कितना पा रहे परितोष।
मावसे ग्रीवा किये हैं मग
मुग्धभावा वे प्रियायें सग।
पंखों में कितने भरे हैं रग
देख होती मनुज मति तो दग।
लग रहे नीलम जड़े-से पक्ष
कुशलता यह प्रकृति की प्रत्यक्ष।
हे प्रकृति की तूलिके! तू धन्य,
धन्य तेरा कार्य-क्षेत्र अरण्य।
चलो! अब तो कर चुकीं विश्राम
झील देखो दिव्य-शोभा-धाम।
और देखो आ रहा वह ऋक्ष
इधर यह विकसित बकुल का वृक्ष—
कर रहा तुमको समर्पित फल
श्रेष्ठ का क्षण-सग भी सुखमूल।
गध इनसे उड़-रही सबल
कर रहे नृप-भोग मानों सत्र।
झड़ रहा यह मुग्ध आप पराग
इष्ट इसको प्रिया-पद अनुराग।
सामने शाल्मलि-विपिन उस ओर,
छू-रही वह गिरि-शिखा नभ छोर।
भर अहा यह पक्षियों से गोद
प्रगट करता वृद्ध वट यह मोद।
सभी तरु-वर-तुल्य अपना जान—
कर रहे निस्स्वार्थ छाया-दान।
तन रहे आकाश में घन धीर,
बाँटते पर-हित, स्व-तन-धन नीर।

यह विहग-रव हो रहा दिग्व्याप्त
अब हुआ कन्सी-विपिन यह प्राप्त ।
आज पर सज्जित हुआ यह आप—
सिर झुकाये यों खड़ा चुपचाप ।
समझता था कुछ न यह उद्भ्रान्त—
सदृश अपने स्निग्ध कोमल कान्त ।
समझ निज-से स्निग्ध-कान्त-विशेष
हे प्रिये वैदर्भि ! तव उरस्-देश ।
हो गया नत विगत है सब दर्प
जा रहा वह ! रेंगता-सा सर्प ।
विपिन-में सब ओर से स्वच्छन्द—
मिल रहीं बढ़कर लता सानन्द ।
चमकते हैं पुष्प, नीले पत्र,
नील-नभ में उदित-से नक्षत्र ।
बह-रहा नद इधर पथ-को रोक
झर रहा झरना इसे बे-टोक ।
पा रहा जो सो लुटाता मोह
कर सका कब अघ इसको माह !
उन जनों से तो यही बड़भाग
जो कमाकर धन न करते त्याग ।
रेंगता इस ओर कैसा ! कीट
तीर-सा नभ-में गया वह ढीठ !
खिल रहे थे फल कितने आप
छू रहा इनको न भव का ताप ।
आम्र वन का इधर प्राकृत कुञ्ज
वना-सुषमा का सुखद यह पुञ्ज ।
गूँजते अलि मधुर पिक का गान
और पी' पी' अमय चातक-तान ।

भर रहा मन-में अपार उमङ्ग
छोड़ता-सा बाण गुप्त अनङ्ग।
हो कनक-सी किन्तु तुम जो साथ
व्यर्थ हैं सब स्वयं इसकी बात।
इधर ये शोभायमान अशोक—
दूर करते हैं जगत-का शोक।
विपिन! तेरा धन्य है प्रारब्ध,
दिव्य यह सब आप तुमको लब्ध।
और यह प्राकृत सरोवर भव्य
विपिन-की शोभा बढ़ाता दिव्य।
कमल-वन की यह प्रभा निर्दोष—
दे रही कितना दृगा-का तोष।
वन भ्रमण से मुग्ध हैं भरपूर
चलो लौटें, आ-गये हम दूर।
कर विपिन-में भाँति, भाँति, विनोद,
देख प्राकृत दृश्य, पा अति मोद।
ठहर कानन में दिवस दो चार,
फिर-उठाया लौट नैषध-भार।
समय पाकर भीमजा ने आप,
पुत्र जन्मा चन्द्र सा निष्पाप।
हुए अत्युत्सव नृपति के द्वार,
निषध-मुद का था न पारावार।
नाम गुण अनुरूप हो अवनीन्द्र,
प्यार से कहते उसे प्रिय 'इन्द्र'।
समय पाकर भीमजा ने धन्य—
सुता पैदा की स्वयं-सी धन्य।
किये नृप ने मख अनेक महान
दीन हीनों का किया धन-दान।

यह विहग रव हो रहा दिग्व्याप्त
प्रब हुग्रा कदली-विपिन मद-प्राप्त।
प्राण पर लज्जित हुआ यह भाप—
सिर झुकाय यों खड़ा चुपचाप।
समझता था कुछ न यह उद्भ्रान्त—
सदृश अपने स्निग्ध कोमल कान्त।
समझ निज-से स्निग्ध-कान्त-विशेष,
है प्रिये वैदर्भि! सब उरु-देश।
हो गया नत विगत है सब दर्प
जा रहा वह! रेंगता-सा सर्प।
विपिन-में सब ओर से स्वच्छन्द—
खिल रहीं बढ़कर लता सानन्द।
चमकते हैं पुष्प नीले पत्र
नील-नभ में उदित-से नक्षत्र।
बह रहा नद इधर पथ-को रोक
भर रहा झरना इसे बे-टोक।
पा रहा जो सो लुटाता मोह
कर सका कब अन्य इसको मोह!
उन जनों से तो यही बड़भाग
जो कमाकर धन न करते त्याग।
रेंगता इस ओर कैसा! कीट
तीर-सा नभ-में गया वह ढीठ!
खिल रहे ये फल कितने आप
छू रहा इनको न भव का ताप।
आम्र बन का इधर प्राकृत कुञ्ज
बना-सुषमा का सुखद यह पुञ्ज।
गूँजते अलि मधुर पिक का गान
और पी पी' अन्य चातक-दाम।

भर रहा मन-में अपार उमङ्ग
छोड़ना-सा वाण गुप्त अनङ्ग।
हो कवच-सी किन्तु तुम जो साथ
व्यर्थ हैं सब स्वय इसकी घात।
इधर ये शोभायमान अशोक—
दूर करते है जगत-का शोक।
विपिन! तेरा भय है प्रारब्ध,
रम्य यह सब कोष तुमको लब्ध।
और यह प्राकृत सरोवर भव्य
विपिन-की शोभा बढ़ाता दिव्य।
कमल-वन की यह प्रभा निर्दोष—
दे रही कितना दृगों-को तोष।
वन भ्रमण से सुख है भरपूर
चलो लौटें आ-गये हम दूर।
कर विपिन-में भाँति भाँति विनोद,
देख प्राकृत दृश्य पा अति मोद।
ठहर कानन में दिवस दो चार,
फिर-उठाया लौट नैषध-भार।
समय पाकर भीमजा ने आप,
पुत्र जना चन्द्र सा निष्पाप।
हुए अत्युत्सव नृपति क द्वार,
निषध-सुख का था न पारावार।
नाम गुण अनुरूप ही अवनीन्द्र,
प्यार से कहते उसे प्रिय 'इन्द्र'।
समय पाकर भीमजा ने अन्य—
सुता पैदा की स्वर्ग-सी धन्य।
किये नृप ने मख अनेक महान
दीन हीनों को किया धन-दान।

सुखी थे जन थी न आधि न व्याधि
निचय था धन-धान्य-पूर्ण अगाध।
करने लगे दिनों-दिन भूपति भवन सुयश विस्तार
देते दण्ड सदा दुष्टों-को, दीनों-को उद्धार।
रखते सतत प्रजा सुख दुख का पुत्र तुल्य थे ध्यान
अतः प्रजा-जन उन्हें पूजते पिता-तुल्य ही मान।

नवम सर्ग

सचमुच जग-में है संग ही रंग लाता,
सगुण-मनुज को भी, नीच-पापी बनाता।
पथ-विरत हुए को मार्ग अच्छा दिखावे
बन वह सुकृती है जो-कि सत्संग पावे।

निरख शीघ्र वहाँ बस लेखनी!
बन रहा वह जो सित सद्म है।
मतुल-वश विनाशन ध्यान से—
कर रहा कु-सखा छल-छद्म है।

सुख कर सकता कब वास वहाँ,
कलि का हो स्वयं निवास जहाँ।
सुख पूर्ण हुए, दुख-की बारी,
कर्मोपभोग है माधारी।

थके हुए दिननाथ अभी निज घर गये
कमल वर्गों-की सभी प्रभा वे हर गये।
हा-कोकी हत-हुई शोक पाने लगी,
निशा विश्व-में तिमिर पटल छाने लगी।
राजभवन उस ओर प्रकाशित हो रहा
तमी-सोम को स्वयं दमक-कर धो रहा।

नल के पुष्कर अनुज यहाँ आसीन हैं
रूप चिन्ह सब लुप्त सोच में लीन हैं।
कलि-सम मानस कुमति सखा यह पास है,
करता निज-अनुरूप कुत्सितायास है।
छिपा हुआ था अहित वचन ये प्रेम के
विष से हों परिपूर्ण कलश ज्यों हेम के।
सखे ! स्वल्प सौभाग्य न मेरा है अहा
जो तुम सा युवराज मित्र मेरा रहा।
कई वर्ष हो गये यहाँ रहते हुए,
तुम्हें देख इस भाँति कष्ट सहते हुए।
होता था दुख मुझे, न पर कुछ कह सका
क्षमा करो जो आज न मैं यह सह सका।
जिस माँ-से तुम हुए, उसी से वे धनी
रहे किन्तु तुम दास, भूप वे अग्रणी।
होकर तुमको नमाधीन रहना पड़े
नत-मस्तक निर्दोष विवश सहना पड़े।
उनकी आज्ञा वेद-मन्त्र तुम मानते
अपना भी हित अहित न कुछ पहचानते।
सुखभोगी देवेन्द्र-तुल्य निषधेश हैं।
और तुम्हें ये दैन्य भरे सब क्लेश हैं,
एकाधिक सन्तान न भूपति की भली।
एक सत्ता की भिन्न-रूप ही वे कली,
सुनी क्षुद्रता पूर्ण, मित्र की बात जब।
सहसा जसमें लगा मसानुज गात सब।
हो न मित्र अपमान, ध्यान करके यही,
बदल बदन के भाव, बात ऐसे कही।
तुम सा अच्छा मित्र, मुझे यह ! प्राप्त है
मेरे दुख से बसा तुम्हारा गात है।

बनी भाग्य की प्रीति किन्तु अनरीति है,
क्षमा करो ! यह बन्धु-भेदिका नीति है ।
भन्त्र-वध यह सहन भला कब कर सके
मत कहना दुर्वचन भूल भी फिर सखे ।
अग्रज होता पूज्य देव-सम लोक-में
मूल्य न उसका रहा कभी कम लोक-में ।
जीवन यों ही शान्ति-पूर्ण रस सिक्त हो
सद्भावों-का कोष न मेरा रिक्त हो ।
उनकी आज्ञा सदा मुझे स्वीकार्य है ।
मैं हूँ उनका अनुज ज्येष्ठ वे आर्य हैं ।
क्यों-न इसे सौभाग्य स्वर्ण-अवसर कहूँ
पद-सेवा-रत ज्येष्ठ-बन्धु की आ रहूँ ।
राज्य भोग का मार्ग सखे ! दुस्तर बड़ा
मुझ-सा उस पर हो न सके क्षण-भर खड़ा ।
जन मन रञ्जन करूँ न मुझमें शक्ति है
अग्रज-पद-हित तनिक हृदय-में भक्ति है ।
लोक-भार को वहन करो यह राज्य है
प्रजा-धरोहर सेव्य किन्तु अविभाज्य है ।
पाप-पूर्ण यह मित्र ! तुम्हारी मन्त्रणा
सुनकर ही बढ़ रही हृदय की यन्त्रणा ।
तुम ही सोचो सखे ! तनिक यह ध्यान से
जो निज अग्रज बन्धु मुझे प्रिय प्राण-से ।
उनकी पद-रति को ही क्षति तुम मानते
मेरा दुर्हित छिपा इसी में जानते ।
एक सेव्य-को देख हुए जब तुम दुखी
पूर्ण-प्रजा हो सेव्य रहोगे तब सुखी ।
कर सकता यह कौन ! भला विश्वास है,
नृप होकर भी अनुज, ज्येष्ठ का दास है ।

कण्टक-पथ-पर सुमन तुल्य जो खिल चुके
उन-गुरु-जन से भाव हमें ये मिल चुके।
आर्य्य-सभ्यता यही सुसंस्कृति है यही
इससे ही हो रही सु-वासित यह मही।
मात-पिता गुरु-ज्येष्ठ सभी श्रद्धेय हैं,
इनकी आज्ञा शिरोधार्य गुण-गेय है।
सखे! अनुज मैं राज्य न मेरा भोग्य है
सभी गुणों से युक्त आर्य्य के योग्य है।
सभी प्रजा है उन्हें पिता-सम मानती
निज पितरों को जन्म-हेतु ही जानती।
और पुत्र-सम उसे समझते आर्य्य हैं,
सतत प्रजा-हित ध्येय उन्हें अनिवार्य है।
मैं भी उनका एक प्रजाजन बन रहा
तुम्हीं कहो फिर भाग्य न क्या मेरा महा।
क्षुद्रों ने ही दिया परम-पद राज्य को
खण्ड खण्ड कर दिया अखिल अविभाज्य को।
बन्धु! निषध का वृत्त विदित तुमको सभी
इस शासन में तनिक घूम देखो अभी।
इस प्रकार सद्भाव मर्मों-में भर रहे
'मैं ही नृप हूँ' राज्य यद्यपि नल कर रहे।
और इधर यह विदित आर्य्य नल-की कथा
'यथा प्रजा जन, एक अनुज मैं भी तथा'।
अग्रज मुझको सदा समझते प्राण-सा
मुरझाते वे स्वयं, मुझे-पा म्लान-सा।
मात - पिता गुरु मित्र, एक मेरे वही,
मेरा कुछ अस्तित्व भिन्न उनसे नहीं।

यह सब थोथा ज्ञान न इसमें सत्य है,
अन्ध वधिर यह मोह, कथन निःसत्व है।
मानों ऐसे भाव प्रगट करते हुए,
पुष्कर का सब धम ज्ञान हरते हुए।
वह गालव कसि-रूप ठहाका मारकर—
हँसे और यों-कहा ऊपरी प्यार कर।
यह भोलापन मित्र ! दया के योग्य है
कहते जो तुम, राज्य ज्येष्ठ का भोग्य है।
है यह सब पाखण्ड न इसमें सत्य है
माता के सब एक समान अपत्य हैं।
रहे ज्येष्ठ क्यों-भूप अनुज क्यों-दास है
भूप रचित यह सभी छद्म का पाश है।
नृप से पाकर द्रव्य जिन्होंने घर-भरे,
उन लोगों ने नियम रचे ऐसे अरे !
वही नियम बन गये लोक-में अब प्रथा
सोच समझकर कहो न क्या वे सब वृथा।
जितनी हों सन्तान एक माँ-की अहो !
सम-भोक्ता वे सभी न हों फिर क्यों-कहो !
अरे दीन ही मित्र ! राज परिवार से
रहते जब सब बन्धु तुल्य अधिकार से।
और एक तुम, दास बने भी तुष्ट हो,
तुमसे लक्ष्मी कहो न फिर क्यों रुष्ट हो।
मिल जाता है राज्य न भिक्षा-में कहीं,
शक्तिमान ही सदा भोगते हैं मही।
तुम्हीं कहो हाँ हीन-वस्तु यदि राज्य है
है न भोग्य भी वस्तु, तृणा-सा त्याज्य है।
होती फिर क्या क्रान्ति उसी-के अर्थ ही,
बहता उसके लिए रक्त क्यों-व्यर्थ ही।

भावुकता यह निरी इसे तुम छोड़ दो
ये नर-कुल दुर्नियम इन्हें अब तोड़ दो।
कायरता यह छोड़ उठो अब हो खड़े
यत्नों से ही काम सदा बनते बड़े।
बस तुम हाँ भर कहो कार्य फिर सिद्ध हो
अनायास ही सखे ! लक्ष्य यह विद्ध हो।
एक युक्ति मैं तुम्हें बता-दूँगा अभी,
पा जाओगे राज्य निषध का सहज ही।
तनिक क्रुद्ध-हो और मित्र को डाटकर
बोले-पुष्कर, बात बीच-में काटकर।
पाप शान्त ! यों वचन न फिर कहना कभी
विष-सी कटु यह लगी मुझे शिक्षा सभी।
निर्माता जो आर्य-सभ्यता के रहे
जिनके वचन प्रकाश विश्व-को दे रहे।
उन पर भी आक्षेप अभी तुम कर चुके
करके तर्क वितर्क मित्र ! यों-बेतुके।
समझ रहे सुख-मूल अरे ! तुम राज्य को
इसीलिए सिर चढ़ा रहे उस त्याज्य को।
देव देव-ही दनुज दनुज-ही क्यों रहें
ज्येष्ठ ज्येष्ठ-ही अनुज अनुज ही क्यों रहें।
कार्य-कुशलता धैर्य, प्रशस्त-गुणावली
अनुभव या गाम्भीर्य, सौम्यता की स्थली।
अग्रज में क्यों रहें, अनुज में क्यों नहीं,
मिल जावे अपवाद भले इसका कहीं।
क्षुब्ध राज्य-का तुम्हीं कहो मैं क्या-करूँ
हीन-वस्तु के लिए परस्पर लड़-मरूँ।
क्या-जानो तुम अभी उच्च-कुल की अरे !
इसीलिए कह रहे वचन यों-विष भरे।

हुए ममानुज मौन, प्रगट कर भाव यों,
गालव भी फिर लगे चलाने दाव यों।
हो आये प्रण पूर्ण, इष्ट यह था उसे
मैत्री-व्रत हो भङ्ग विपद में वह फँसे।
"कहते हो सब ठीक यदपि युवराज तुम
करते हो पर, अपना आप अकाज तुम।
जन-मन रञ्जन शक्ति आप में है नहीं,
सत्य कहेगा कौन! सखे! हमको कहीं।
यह जन-कृत कुनियम कि अग्रज नृप बने
क्या इससे अधिकार न अनुजों के छिने।
घाटे में ही रहे अनुज इस रीति-सा,
कह न सके कुछ नियम मग की भीति-सा।
देखो तब से राज्य-सम्पदा के लिये,
घोषित मत बहु बार प्रचारित हैं किये।
किये घोर अन्याय और छल-छिद्र भी,
रचे बड़े कुत्पाय रह उन्निद्र भी।
कलाकार कर सके! पूर्ति इसकी नहीं
रच न सकी है कला मूर्ति इसकी नहीं।
राज्य-मूर्ति बन सकी दुधारी धार-पर,
खड़ी हुई यह रक्त-सिन्धु को पार कर।
अतः सखे! यह राज्य वीर का भोग्य है,
वीर विनिर्मित मूर्ति उसी के योग्य है।
विप्र-वृत्ति को समझ रहे निज कर्म तुम
भूल रहे हा मित्र! क्षत्र का धर्म तुम।
होती यदि यों हानि अकेले आप की
तो भी थी यह बात न कुछ सन्ताप की।
एक तुम्हारी भूल पिछ सन्तान को
अब जा है फिर यह न रहेगा मान को,

यद्यपि तुम्हारी स्त्री कुछ भी कहती नहीं
पर क्या-वह कुछ मनस्ताप सहती नहीं।
पत्नि तुम्हारी बनी न क्यों, नभ की धनी
क्यों दमयन्ती भाग्यवती उससे घनी।
निषध प्रजा की आज महारानी वही
उस जैसी तो सुखी न इन्द्राणी रही।
सचमुच तुमसे आज प्रेम वह कर रही
मम दम्पति-सा प्रेम किन्तु क्या-है वही।
सत्कुलजा का मौन कभी टूटा नहीं
पर, उनसे धन-मोह कभी छूटा नहीं।
जिस दिन वह सम्राट मुकुट सिर-पर धरो
पत्नी-पर दृग-पात प्रेम पूरित करो।
सार्थक समझे तभी न क्या-वह आप को
और करेगी दूर हृदय-के ताप को।
देगी तुम पर वार स्वयं को वह तभी
पाओगे वह प्रेम न जो पाया अभी।
अत स्वहित को सोच बात मेरी सुनो
जैसे तुम स्वच्छन्द कि कुछ भी पथ चुनो।
कुलाङ्गना यदि कहीं लाज को त्याग-दे
उसी लाज को वार-वधू अनुराग दे।
नृप-कुल में हो काम और सन्तोष हो
कहीं विप्र में असन्तोष का दोष हो।
कर्त्ता-को ये कार्य, नष्ट करते स्वयम्,
पाकर कष्ट अनन्त सभी मरते स्वयम्।
भावुकता में मित्र न तुम ऐसे बहो
सोचो समझो और सुदृढ़ गिरि सम रहो।
निस्पृह-हित ही राज्य-वस्तु वैराग्य की
क्षत्रिय हित यह कहाँ सम्पदा त्याग-की।

दानव, मानव, देव सभी इस पर मरे
अगणित-जन अवलम्ब इसी का पा-तरे।
तिल-भर-भू-हित बन्धु, बन्धु को काटते,
बन्धु-रक्त को खड्ग बन्धु के चाटते।
पट जाता मैदान शवों-से रण छिड़ें
राज्य-हेतु ही पुत्र पिता से भी भिड़े।
राज्य-हेतु ही नदी रक्त की बह चले
राज्य-हेतु ही मित्र, मित्र को भी छले।
समझो राजकुमार विचारो, चित्त में
भव का सारा विभव निहित है वित्त में।
वसुन्धरा का भोग्य-स्वादु तुम जानते
तो फिर ऐसी हठ न वृथा यह ठानते।
पृथ्वी-पति बन करो सुखों का भोग तुम
थोथे ज्ञानी बन न तजो यह योग तुम।
ऐसी तुम्हें सु-युक्ति बताऊँगा अभी
लगे न जिससे दोष तुम्हें कोई कभी।
इङ्गित पर यह निपध तुम्हारे चल पड़े
निषधराज सब कहें तुम्हें छोटे बड़े।
चूमे पद यह प्रजा कमल-सम मानकर
वसुधरा हो धन्य तुम्हें पति जानकर।
सम्राज्ञी का पद अ-पूर्व जब पायगी
तभी कुमुन्नी दासी-तुल्य हो जायगी।
यदि दो दिन के लिए कहीं इस कृत्य-में—
आ जायें दुर्भाव, मित्र या भृत्य-में।
आ जावेगी शक्ति, किन्तु जब हाथ में
सहसा ही हो जाय प्रजा तब साथ में।
दुष्टों का कर दमन, सुजन का मान-कर,
अधिकारी को और उच्च-पद दान कर।

यदपि तुम्हारी स्त्री कुछ भी कहती नहीं
पर क्या-वह कुछ मनस्ताप सहती नहीं।
पत्नि तुम्हारी बनी न क्यों मन की धनी
क्यों दमयन्ती भाग्यवती उससे धनी।
निषध प्रजा की आज महारानी वही
उस जैसी तो सुखी न इन्द्राणी रही।
सचमुच तुमसे आज प्रेम वह कर रही
नल दम्पति-सा प्रेम किन्तु क्या-है वही।
वसुसजा का मौन कभी टूटा नहीं
पर, उनसे मन-मोह कभी छूटा नहीं।
जिस दिन वन सम्राट मुकुट सिर-पर धरो
पत्नी-पर दृग-पात प्रेम पूरित करो।
सार्थक समझे तभी न क्या-वह आप को
और करेगी दूर हृदय-के ताप को।
देगी तुम पर वार स्वयं को वह तभी
पाओगे वह प्रेम न जो पाया अभी।
अत स्वहित को सोच बात मेरी सुनो
जैसे तुम स्वच्छन्द कि कुछ भी पथ चुनो।
कुलाङ्गना यदि कहीं लाज को त्याग-दे
उसी लाज को वार-वधू अनुराग दे।
नृप-कुल में हो जन्म और सन्तोष हो
कहीं विप्र में असन्तोष का दोष हो।
कर्त्ता-को ये कार्य नष्ट करते स्वयम्,
पाकर कष्ट अनन्त सभी मरते स्वयम्।
भावुकता में मित्र, न तुम ऐसे बहो
सोचो समझो और सुदृढ़ गिरि सम रहो।
निस्पृह-हित ही राज्य-वस्तु वैराग्य की
क्षत्रिय हित यह कहाँ सम्पदा त्याग-की।

दानव मानव देव सभी इस पर मरे
अगणित-जन अवलम्ब इसी का पा-तरे।
जिस-भर-भू-हित बन्धु, बन्धु को काटते
बन्धु-रक्त को खड्ग बन्धु के चाटते।
पट जाता मदान शवों-से रण छिड़ें
राज्य-हेतु ही पुत्र पिता से भी भिड़ें।
राज्य-हेतु ही नदी रक्त की वह चले
राज्य-हेतु ही मित्र मित्र को भी छले।
समझो राजकुमार विचारो, चित्त में
भव का सारा विभव निहित है वित्त में।
वसुधरा का भोग्य-स्वादु तुम जानते
तो फिर ऐसी हठ न वृथा यह ठानते।
पृथ्वी-पति बन करो सुखों का भोग तुम
चौथे आनी बन न सजो यह योग तुम।
ऐसी तुम्हें सु-युक्ति बताऊँगा अभी,
लगे न जिससे दोष तुम्हें कोई कभी।
इङ्गित पर यह निपम तुम्हारे चल पड़े
निपधराज सब कहें तुम्हें छोटे बड़े।
चूमे पद यह प्रजा कमल-सम मानकर,
वसुन्धरा हो धन्य तुम्हें पति जानकर।
सम्राज्ञी का पद अ-पूर्व जब पायगी
तभी कुमुदनी शची-तुल्य हो जायगी।
यदि दो दिन के लिए कहीं इस कृत्य में—
आ जायें दुर्भाव, मित्र या भृत्य-में।
आजावेगी शक्ति किन्तु जब हाथ में
सहसा ही हो जाय प्रजा तब साथ में।
दुष्टों का कर दमन, सुजन का मान-कर,
अधिकारी को और उच्च-पद दान कर।

नृप-नल ऐसे कार्य जहाँ तुमने किये
सभी समर्थक शीघ्र वहाँ तुमने किये।
कूट नीति छल छिद्र और कुछ शक्ति भी
विश्वासाविश्वास कहीं कुछ भक्ति भी।
फलती यह साम्राज्य-बेलि सब फलकर
छोड़ो मत अब स्वर्ण-योग तुम भूलकर।
राज्य-सूत्र यदि कुछ न सके ! होता कहीं
तो तदर्थ सुर-वर्ग भेय खोता नहीं।
ठने समर दिन रात सुरासुर रत-हुए,
एतदर्थ प्रभु क्या न महाभारत हुए।
है यद्यपि यह क्रम नहीं जन-पूत का
पर भूपति को व्यसन लगा है द्यूत का।
मैं हूँ अति निष्णात खेल में अक्ष के
क्षण भर में धन-धाम हरूँ अति-दक्ष के।
कैसा भी हो कुशल प्रतिद्वन्दी कहीं
मेरे सम्मुख किन्तु जीत सकता नहीं।
कपट-पूर्ण यों-अक्ष विनिर्मित मैं करूँ
भूपति का साम्राज्य एक क्षण-में हरूँ।
माँगोगे जो दाव मित्र ! पाओ वही
जान सकेगा भेद न कोई भी सही।
भूप-बुद्धि पर घोर तिमिर छा-जायगा
तनिक न शोणित बहे राज्य आ-जायगा।
मित्र ! क्रान्ति से पूर्ण क्रान्ति हो जायगी
जो-कि ! तुम्हारा दास्य भाव भी जायगी।
दुहित मेरा कभी न भूपति ने किया,
फिर भी यह सब भेद तुम्हें मैंने दिया।
सोचो यह क्यों किया, मित्र प्रेमार्थ ही,
केवल अपने पूज्य-सखा क्षमार्थ-ही।

अस्वीकृत है, या समोद स्वीकार है
यह सब तो युवराज ! तुम्हें अधिकार है।
एक ओर है स्वर्ग उधर रौरव विकट
इधर दासता और उधर प्रभुता-मुकुट।
जँचे तुम्हें जो श्रेष्ठ मार्ग चुनलो वही,
जिससे हो कल्याण भाव गुन लो यही।
करता हूँ मैं विनति यही भगवान की
वह तुमको दे बुद्धि हिताहित ज्ञान की।
सभा-मध्य हों भूप सभासद हों सभी—
जब तुम उनको पहुँच चुनौती दो तभी।
समझायें वे तुम्हें, न तब तुम मानना
क्षण-भर में बस कार्य-सिद्ध फिर जानना।
द्यूत-भिखारी-पूर्ण-पक्ष कोई कहीं—
करता अस्वीकार चुनौती को नहीं।
जो जीते वह राज्य करे प्रण हो यही
विजित पक्ष वनवास त्रास भोगे सही।
गालव चुप हो गये व्यक्त कर निज कथा
गुञ्जारित हो कक्ष समर्थन कर चला।
सुन पुष्कर हतबोध-हुए विष-घुण्ट-से
गालव से उपविष्ट बने वे दुष्ट-से।
पुष्कर के हर शील सुमति सौजन्य भी
गालव तो शयनार्थ गये निज गृह तभी।
उन्नत-भाव-विनाश हेतु दुर्मन्त्र यों—
दुरभिसन्धिमय रचा देख षड्यन्त्र यों—
छिपे लाज से अर्ध-इन्दु पाकर व्यथा,
तिमिर पटल-परिपूर्ण हुई रजनी तथा।
लेटे थे युवराज नींद आई नहीं
रहे रात भर विकल चैन पाई नहीं।

कभी विजित सद्भाव कभी था भीतता
पल पल भी युग-तुल्य उन्हें था बीतता।
गूंज रहे थे वचन, मित्र के कान में
घिर घिर आती रही बात थे ध्यान में।
उनके मन-में भाव यही थे भर रहे
गूढ़ कक्ष नभ-दिशा यही रव कर रहे।
राज्य-मूल्य यदि सखे! न कुछ होता कहीं
तो सदर्प सुर-वर्ग धैर्य खोता नहीं।
कहता यह ही वायु, दिशा कहती यही—
शक्तिमान ही सदा भोगते हैं मही।
राज्य-सभा जुड़ रही सभासद हैं वहाँ
नृप बनकर वे स्वयं निरापद हैं वहाँ।
रत्न-जटित-सिर मुकुट चन्द्र से तुल रहे,
छत्र-दण्ड थे तने, चौर थे दुल रहे।
नम्र-शान्त-नत सोम उपस्थित हैं यहीं
मानों सब सुर भोग उपस्थित हैं यहीं।
पदवी उनको प्राप्त हुई निषधेश की
जोह रहे सब विनत बाट आदेश की।
उधर दर्पिता प्रिया राजरानी हुई
देती है गल बाँह सुधा-सानी हुई।
रोम रोम-में भाग्य-गर्व है भर रहा
स्व-पति-भाग्य अनुभूति हृदय है कर रहा।
वे ही कम्पित हृदय दृष्टि-में झूलते—
रहे रात भर, जिन्हें न पल भर भूलते।
गालव रोपित बीज, वृक्ष बन छा-गया,
प्रात तक फल फूल सभी क्यों पा-गया।
छाया से अभिभूत रसातुर हो गये,
संयम, साधु-विचार, शील, सब खो गये।

प्रात तक हो गया सुदृढ़ निश्चय यही
मानव ने जो कहा—करूँगा मैं वही।
अपना निश्चय कहा-सुनाकर अब उन्हें,
कलि विहँसा सद् ज्ञान भुलाकर सब उन्हें।
सज्जित हो ले छप अक्ष मित्र हाथ ले
राजसभा में गये मित्र के साथ वे।
पुष्कर का व्यवहार देख उस दिन वहाँ
जड़वत् सब रह गये जहाँ के ही तहाँ।
उद्यत होकर वचन नृपति से यों कहे
सुन जिनको नृप स्वयं स्तब्ध से ही रहे।
निषधराज के वचन आज तक मैं सभी—
रहा मानता तात! की न चूँ तक कभी!
रखा सदा मैं दास पिता माना तुम्हें
हाँ अपना सर्वस्व एक जाना तुम्हें।
छोटा हूँ मैं इसीलिए यह सब हुआ
पर, इस सबका ज्ञान मुझे है अब हुआ।
जिस माँ से तुम हुए, अम्ब मेरी वही
मैं हूँ दास-समान भोगते तुम मही।
भूमि भोग का पूर्ण जानते स्वाद तुम
दोगे मुझे न राज्य अतः अविवाद तुम।
और युद्ध यदि करूँ तुम्हारे साथ में
तो जन मरें अ-दोष हमारे साथ में।
व्यर्थ बढ़ेगा पाप न यह पथ इष्ट है,
अतः एक ही मार्ग शेष अवशिष्ट है।
आओ हम तुम आज द्यूत खेलें स्वयम्,
फिर जिस पर जो पड़े उसे झेलें स्वयम्।
आज चुनौती अटल तुम्हें मेरी यही
जो भी जीते निषधराज्य भोगे वही।

अक्ष खेल में रहे सुदक्ष अपार तुम,
अतः चुनौती करो अभी स्वीकार तुम।
निर्णायक हों अक्ष कि राजा कौन हो
पुष्कर यों कह वचन खड़े थे मौन हो।
ऐसा दुर्व्यवहार अनुज-का देखकर
और पूर्ण उद्दण्ड उसे उल्लेख कर।
कुछ विस्मित कुछ क्रुद्ध वचन-नृप ने कहे—
वत्स! भद्रता कहाँ-गई, क्या कह रहे।
क्या-कुछ तुमसे आज किसी ने कह दिया
या धोखे से बन्धु! कहीं कुछ है पिया।
हो विक्षिप्त-समान ज्ञान खोकर सभी
किया राज अपमान मत्त होकर अभी।
सग-दाप ने तुम्हें कहीं क्या-है छला
राज्य तुम्हारे लिए, मुझे क्या-है भला।
अपने से मैं भिन्न न तुमको जानता
प्राण-तुल्य प्रिय अनुज तुम्हें मैं मानता।
अब तक कर-में धनुष बन्धु! जानो सही
दे सकता हूँ जीत तुम्हें सारी मही।
तुम पर यह साम्राज्य सभी मैं वार-दूँ
चाहो तो यह प्राण अभी उपहार दूँ।
किन्तु सभी ने बुरा कहा है द्यूत को
अतः न छेड़ो अनुज! प्रसंग अपूत को।
केवल फलता धूल-मूल फल मात्र का
इसमें कहाँ विकास, पन्थ यह ह्रास-का।
माना मैंने है कि एक यह भी कला
किन्तु यहीं तक कि हो मनोरञ्जन भला।
निंद्य वस्तु यह रही, सदय ठगना जहाँ,
ठगने से तो श्रेष्ठ ठगे जाना यहाँ।

मृत्यु नाश अपमान विजित का मूल्य है
वैसा भी हो-स्वयं विजित के तुल्य है।
अधम धन हो प्राप्त व्यसन घेरें उसे
और दूर से रोग शोक हेरें उसे।
बन्धु ! अभी तुम द्यूत-चुनौती दे चुके
सिंहासन-अपमान-दोष सिर से चुके।
वापस ले लो अत चुनौती तुम सभी
सिंहासन से पुन क्षमा माँगो अभी।
प्रथम-दोष है अत क्षमा मिल जायगी
और नहीं तो दण्ड-धरा हिल जायगी।
भूपति को मिल जाय चुनौती यदि कहीं
कर ले उसको सहन विवश वह नृप नहीं।
अच्छा-हो यह राज्य-चिह्न-सब छोड़ दे
जटा धार कर प्रेम भजन-से जोड़ दे।
चित्र-लिखित से सभी सभासद सुन रहे,
मन ही मन परिणाम दुखद थे गुन रहे।
पुष्कर की यह बुरी लगी अनरीति सी
राज्य अहित से भरी हृदय-में भीति-सी।
भूपति के सुन प्रीति-वचन उपदेश भी
हिले न पुष्कर कहे हुए से लेश भी।
दीख रही थी आज उसे निश्चक जय
दुहराई फिर वही चुनौती हो अभय।
नृप ने सोचा इस अभिमान बला-हो गया
पाप-पंक में लिप्त ज्ञान कया-सो गया।
कहे अनुज से विविध वचन फिर प्रीति के
और दिये सब चन्द्र-वंश की रीति के।
साम-दाम या दण्ड भेद-की सी शरण
पुष्कर को कर सके न पर दुर्मति-हरण।

अक्ष खेल में रहे सुदक्ष अपार तुम
अतः चुनौती करो, अभी स्वीकार तुम।
निर्णायक हो अक्ष कि राजा कौन हो
पुष्कर यों कह वचन खड़े थे मौन हो।
ऐसा दुर्व्यवहार अनुज-का देखकर
और पूर्ण उद्दण्ड उसे उल्लेख कर।
कुछ विस्मित कुछ क्रुद्ध वचन-नृप ने कहे—
वत्स! अहता कहाँ-नाई क्या कह रहे।
क्या-कुछ तुमसे आज किसी ने कह दिया
या भोले से बन्धु! कहीं कुछ है पिया।
हो विक्षिप्त-समान ज्ञान खोकर सभी
किया राज-अपमान मत्त होकर अभी।
युग-दोष ने तुम्हें कहीं क्या-है छला
राज्य तुम्हारे लिए, मुझे क्या-है भला।
अपने से मैं भिन्न न तुमको जानता
प्राण-तुल्य प्रिय अनुज तुम्हे मै मानता।
अब तक कर-में धनुप बन्धु! जानो सही
दे सकता हूँ जीत तुम्हें सारी मही।
तुम पर यह साम्राज्य सभी मै वार दूँ
चाहो तो यह प्राण अभी उपहार दूँ।
किन्तु सभी ने बुरा कहा है धूत को
मत न खेलो अनुज! प्रसंग अपूत को।
केवल फलता धूत-वृक्ष फल नाश का
इसमें कहाँ विकास पन्थ यह ह्रास का।
माना मैने है कि एक यह भी कला
किन्तु यहीं तक - कि हो मनोरञ्जन भला।
निंद्य वस्तु यह रही लक्ष्य ठगना जहाँ
ठगने से तो श्रेष्ठ ठगे जाना यहाँ।

मृत्यु, नाश, अपमान विजित का मूल्य है,
जैसा भी हो-स्वयं विजित के तुल्य है।
अश्रम धन हो प्राप्त, व्यसन घेरें उसे
और क्रूर से रोग-शोक हेरें उसे।
बन्धु! अभी तुम द्यूत चुनौती दे चुके
सिंहासन-अपमान-दोष सिर ले चुके।
वापस ले लो अत चुनौती तुम सभी
सिंहासन से पुनः क्षमा माँगो अभी।
प्रथम-दोष है अतः क्षमा मिल जायगी
और नहीं तो वज्र-धरा हिल जायगी।
भूपति को मिल जाय चुनौती यदि कहीं,
कर ले उसको सहन विवश वह नृप नहीं।
अच्छा-हो वह राज्य-चिह्न-सब छोड़ दे
कटा भार कर प्रेम अनघ-से जोड़ दे।
चित्र-लिखित से सभी सभासद सुन रहे,
मन ही मन परिणाम दुखद थे गुन रहे।
पुष्कर की यह बुरी लगी अनरीति सी,
राज्य अहित से भरी हृदय-में भीति-सी।
भूपति के सुन प्रीति-वचन, उपदेश भी,
हिले न पुष्कर कहे हुए से लेश भी।
दीख रही थी आज उसे निश्चय जय,
दुहराई फिर वही चुनौती हो अभय।
नृप ने सोचा इसे ध्यान क्या-हो गया
पाप-पंक में लिप्त ज्ञान क्या-क्या गया।
कहे अनुज से विविध वचन फिर प्रीति के
और दिये भय चन्द्र-वंश की रीति के।
साम-दाम या दण्ड भेद-की भी अगम,
पुष्कर को कर सके न पर दुर्नीति-रत।

समभ्य सभ्य सचिव सभासद सब थके
दिये चुनौती खड़े न पर पुष्कर झुके।
नृप-पर भी अब कलि प्रभाव होने लगा
हुआ विवर्धित क्रोध बोध खोने लगा।
बोले-ऐसे वचन गरज घन-घोष से—
भोगेगा अब कुफल मूर्ख! निज दोष से।
पर, सम-धन ही पुरुष खेल यह खेलते
हानि लाभ कब असम मनुज हैं झेलते।
मैं हूँ राजा और तुच्छ है तू अरे
मेरे जैसा बता दाव पर क्या-धरे।
राज-पाठ धन-धान्य लगाऊँ मैं सभी
क्या-है तेरे पास लगा, देखूँ अभी!
है न सही वह बात कि जो मैंने कही
गालव की घन-दृष्टि जताती भी यही।
मौन खड़े थे असभ्य बड़े निर्लेप-से
भरा किन्तु उत्साह दृष्टि-निक्षेप से।
बोले-पुष्कर तभी क्रोध में वे भरे,
प्रकृत बात पर भूप शीघ्र धाये अरे।
तुम राजा मैं तुच्छ, सत्य ही तो कहा
पर, वह सब पाखण्ड तुम्हारा क्या-रहा।
मैं यदि सम-धन नहीं समस्थिति भी न क्या
हम दोनों की याद करा! है एक माँ।
एक बाप है और रक्त भी एक है
निषध प्रतिष्ठा बड़े एक ही टेक है।
दोनों का अधिकार निषध पर सम रहा
तब तुमसे मैं कहो कि कैसे! कम रहा।
खण्ड खण्ड कर यदि विभक्त इसको करें,
मुझे भी है न इष्ट क्षमित इसको हरें।

राज्य न हो निदराक्त, पूर्ण हो इष्ट भी,
निर्णय भी हो जाय, न पथ हो क्लिष्ट भी।
यही एक है मार्ग, लगे अब पण यहाँ,
बैठे देखें सभी सचिव, गुरुजन यहाँ।
एक ओर सब निषधराज्य-शासीनता,
और उधर बनवास, दासता-दीनता।
पण-खेला ही, अब अखण्ड निषधेश हो,
और विजित को विपिन-वास का क्लेश हो।
काटे चौदह वर्ष दास होकर कहीं
जाय यहाँ से दूर, सभी खोकर यहीं।
एक वस्त्र दो शस्त्र साथ ले जा-सके,
निषध-राज्य का अन्न न फिर वह खा-सके।
अवधि पूर्ण कर पुनः द्यूत खेले यहाँ
जो जीते वह निषध राज्य लेले यहाँ।
और विजित पूर्वोक्त नियम पालन करे,
दास बने या विपिन-वास कर दुख भरे।
आजीवन क्रम यही चलेगा आज से,
कहु पुष्कर चुप खड़े अभय मृगराज से।
पुष्कर के कटु वचन लगे विष-तीर से,
सभी काँपते देह न नृप थे वीर-से।
क्रोधित-सर्प समान उठे फुकार कर
गरजा घायल सिंह यथा हुंकार भर।
दौड़ा मुँह पर रक्त, हुए दृग लाल से,
दीख रहे यमराज काल विकराल-से।
सन्नाटा-सा भरी सभा-में छा-गया
लगा सभी-को अन्त-कि मानों आ-गया।
"रे पामर! तू तनिक नहीं लज्जित हुआ
डटा हुआ है अधम धूर्त! सज्जित हुआ।

देखूँ तेरा द्यूत खिलारी तू बना
कुछ भी रहा न ध्यान, खड़ा सम्मुख तना।
देख चुनौती अभी रग क्या-सामगी
तेरी कल्पित राज्य भित्ति ढह जायगी।
उचित तुझे था यदपि मृत्यु-उपदेश ही
रहता तेरा किन्तु अभीप्सित शेष ही।
सुनो सभासद सचिव उपस्थित जन सभी
करता हूँ मैं आज यहाँ यह प्रण अभी।
दुष्ट! ध्यान से इधर स्वयम् तू सुन कथन
सुनें निखिल दिग्पाल सूर्य धरणी गगन।
किया हुआ प्रण यदि न पूर्ण मैं कर सकूँ
तो निज पापी देह न क्षण-भर धर सकूँ।
मिले न मुझको सु-गति पाप सिर पर चढ़ें
अपना ही यश स्वयम अयश बनकर हरे
हो सब साक्षी एक उसी पर मित्र-सभी—
राज्य-विभव धन-धान्य लगाता हूँ अभी।
यदि परास्त मैं हुआ अभी सब छोड़ दूँ
शासन से सम्बन्ध सभी निज तोड़ दूँ।
करूँ चतुर्दश वर्ष विपिन में वास मैं
या होकर ही रहूँ किसी का दास मैं।
निषध भूमि का अन्न मुझे अग्राह्य हो
एक वस्त्र को छोड़ न कुछ सग्राह्य हो।
साधु जनोचित सभी नियम पालन करूँ
केवल निज रक्षार्थ शस्त्र धारण करूँ।
वैसा ही हो नृपति निषध-साम्राज्य का
पूर्णावधि तक भोग करे यह राज्य का।
इतना कह चुप हुए काँपते पर खड़े
दुराशंका से भीत हुए छोटे बड़े।

भमि-मुख पर मुस्कान मधुर सी आ-गई,
भरी सभा-में इधर उदासी छा-गई।
किंकर्तव्यविमूढ़ सभी वे रह गये
भग्ननिस-सा चला विवश सब बह गये।
मिला न कुछ अवकाश काण्ड यह रोक दें
उन दो में से किसी एक को टोक दें।
वज्रपात-सा हुआ अचानक ही वहाँ
बिना घटा की वृष्टि भयानक थी जहाँ।
सँभले भी कुछ लोग पड़े फिर बीच-में
पर, तब तक फिक चुकी ईंट थी कीच में।
तीर हाथ से निकल चुका था हाय ! अब
चित्र बने रह गये मनुज निरुपाय सब।
भावी-नद में विवश स्वयं-ना भोर यों—
सत्यव्रत कर चुके प्रतिज्ञा घोर यों।
भावी से कब कहाँ किसी का बश चले
भावी ने ये सुजन, सौम्य, निश्छल, छले।
प्रेरित थे सचिवादि राज्य की भक्ति से,
सब ने किये सुयत्न, भरे निज शक्ति से।
गये व्यर्थ पर, पूर्व रंग प्रस्तुत हुआ
निषध राज्य का नाश-क्रम प्रस्तुत हुआ।
घर घर घूमा वृत्त उदासी छा-गई
अन्तःपुर में शोक निशा घिर आ-गई।
भैमी ने दो विकल कई प्रतिहारियाँ—
भजीं नृप को शीघ्र बुलाने नारियाँ।
भातुरता वश पुरुष और भेजे कई
मार्ग नृप को बुला युक्ति कुछ कर गई।
और नागरिक चले बहुत से दौड़कर
अपना, अपना, काम बीच में छोड़कर।

इनसे मुझको पूर्णतया परितोप है,
यह सब मेरा पाप अनुज निर्दोप है।
इनको था आवेश न पर मैं सह सका
प्रकृत बड़ा मैं किन्तु बड़ा कब रह सका।
इनको भी ले गिरा सोच मुझको यही
प्रसित-वदन निज भला दिखाऊँ क्या-कहीं।
माँगा था यह राज्य इन्हें देता सभी
सन्यासी हो विपिन मार्ग लेता तभी।
निज वयोचित कार्य यही मादर्श था
तुम सब के ही साथ मुझे सब हर्ष था।
घाटे में मैं था न दूर जाता कुपथ
छूटता यह साम्राज्य हाय आता सुपथ!
और अनुज-हित थी स्व-कृत्य की पूर्ति भी
स्वयं प्राप्त थी मनस्तोप की मूर्ति भी।
कितना उसका श्रेष्ठ सुखद परिणाम था
पर क्यों होता सुखद जब कि विधि वाम था।
निन्दा थी जो भाग्य लिखी आती सही
विधि की वह लिपि अमिट न मिट पाती कहीं।
वीरसेन का पुत्र जुआरी था बड़ा,
अब तो धन रख यही हाय! हाथों-पड़ा।
मुझ-पर था जो आज अनुज पर भार वह
करते मुझसे अधिक प्रजा-से प्यार यह।
आया गया न राज्य यहाँ का है यहीं
किन्तु, अमर लोकोक्ति हुई अब तो यही।
जिता दिया था राज्य कि धर कर दाव पर
थूकेगा जग हाय! हमारे नाम पर।
पर अब क्या-हो सके हुआ सो हो गया
मिली मुझे अपकीर्ति पुण्य सब खो गया।

महापाप यह एक हाय ! मैं कर चुका
प्रजा-सरोरुह राज्य दाव पर धर चुका ।
था यह अनुचित लाभ तुम्हारे प्यार का
दुरुपयोग कर चुका शुद्ध अधिकार का ।
किन्तु अनुज-में मुझे पूर्ण विश्वास है
यह मुझसे भी अधिक प्रजा-का दास है ।
पूर्ण सुरक्षित राज्य अनु के कर-तले
धरणी दे धन धान्य प्रजा फले फले ।
मुझे यही सन्तोष और तुम भी करो
देकर मुझको क्षमा सोच अपना हरो ।
ये ही अब से निषधराज कहलायेंगे,
न्याय इन्हीं से सभी प्रजाजन पायेंगे ।
रखना मिलकर निषध प्रतिष्ठा ध्यान तुम
जन्म भूमि का बन्धु ! बढ़ाना मान तुम ।
इसका सकल गर्व मानकर तुम हरो
इसके रीते कोष प्राण देकर भरो ।
हँस हँस इस पर बन्धु ! शीश देना बड़ा
गिरे एक जन जहाँ अन्य जन हो खड़ा ।
यह चन्द्राङ्कित ध्वजा सदा लहरा करे,
मन-में रह अपमीत सभग फहरा करे ।
मैं तो अब जा रहा स्व प्रण अनुसार ही
होगा अब अवलम्ब तुम्हारा प्यार ही ।
जाऊँगा अब कहाँ न यह मैं जानता
पर सच समझो सोच न अब मैं मानता ।
है यह मेरी विनय न मुझको रोकना,
जो कुछ भी मैं करूँ न कृपया टोकना ।
राजा हो या प्रजा नियम सब के लिये
भोगें सभी अवश्य कर्म जैसे किये ।

जो कुछ मैंने किया मुझे भरना पड़े,
किन्तु आनर्ते यहाँ सभी छोटे बड़े।
जो भी सिर पड़ जाय स-मुद सब झेलना,
मिथ्या खेल पर चूत भूल मत खेलना।
राजा को भी क्षमा न जब इसने किया
देख रहे तुम कुफल स्वयं इसका दिया।
जन-साधारण इसे सहन फिर क्या-करे,
इसका दुष्परिणाम वहन फिर क्या-करे।
सोचें समझें प्रजा, पाठ इससे पढ़े
कोई भी अब भूल न इस पथ पर बढ़े।
मुझसे ही आलोक विश्व पा जायगा,
अतुल कुलों का नाश न होने पायगा।
तो मेरा यह पाप पुण्यवत् हो सभी,
हूँगा मैं अति धन्य कलुष गत हो सभी!
भूलूँ तुमको मैं न रहूँ चाहे जहाँ,
भूल न जाना बन्धु! मुझे तुम भी यहाँ।
दरस-परस फिर करूँ अवधि को पूर्ण कर,
दो मुझको आशीष बन्धु! अब विघ्न-हर।
बीत रहा है काल न अब है कम मुझे,
बरसों-सा लग रहा आज पल पल मुझे।
मातृ-भूमि का स्मरण क्लान्ति देगा मुझे,
पर, तुम सब का प्यार शान्ति देगा मुझे।
अग्रज हूँ मैं अस' अनुज का भी किया—
भोगूँगा स्वयमेव यही कहता हिया।
राज्य करें ये इन्हें सभी सुख प्राप्त हों,
मुझे धन्य अग्राह्य नियम का अब अहो!
सीमा है अति दूर लगेगा बहु समय,
है हाँ, मेरी एक और लघु-सी विनय।

अन्तःपुर में है निषिद्ध जाना मुझे,
मैत्री-दर्शन सुलभ न यों-पाना मुझे।
प्रतिहारी! तुम कहो वहाँ जाकर अभी
क्षमा करें वे मुझे, भूल दुष्कृत सभी।
रहें रूप-से सदा यहीं सन्तानयुत
धरें धर्म का ध्यान सदा सम्मानयुत।
यह भी कह झट मुकुट मनुज सिर पर धरा
बाष्पों से नृप-कण्ठ अचानक भर भरा।
रोते थे सब वहाँ मनुज जो सुन रहे
विकल अधोमुख सचिव आदि सिर धुन रहे।
वस्त्राभूषण नृप उतार-कर धर रहे
रोकर साग्रह मनुज निवारण कर रहे।
'जाने देंगे तुम्हें न हम हे नृप'! कहीं
राज्य छोड़ दो किन्तु रहो हम-में यहीं।
विलख विलख कह रहे, खड़े थे जन अड़े
करते थे प्रतिरोध पकड़ कर जन बड़े।
हिमा सके पर तनिक न प्रण से धीर को
मिल कर भी सब रोक न पाये वीर को।
सत्यव्रत की एक उक्ति सब थी यहो,
'कथन करूँगा पूर्ण' युक्ति सब थी यही।
रहा एक ही वस्त्र उतारे और सब
राज्य-चिह्न कर अलग धरे उस ओर सब।
पर कालाहल हुआ तभी यह क्या-अरे
सभी चलते मनुज उधर विस्मय-भरे।
ऊषा-सी सब वहाँ भीमजा आ रहीं
निविड़ तमों को, इन्दु-किरण या पा रहीं।
हुआ चन्द्रमुख विनत प्रभा यों-छूटती
तमोमध्य तारिका सहज ज्यों टूटती।

उसे देखकर सभा-शोक अपहृत हुआ
फैला दिव्य प्रकाश तिमिर ज्यों गत हुआ।
अचल-मूर्ति बन उसे देखते ही रहे
रूप-सुधा अनिमेष नेत्र ये पी-रहे।
वस्त्रावृत थे अङ्ग कान्ति थी फूटती
पुष्पों-में से गन्ध गमक ज्यों छूटती।
मिलता था पथ धन्य मानकर आप-को
भूल रहे थे सभी उपस्थित ताप-को।
सहकर अपना भार न वह कुछ भी झुकी—
हेमलता सी पहुँच निकट नृप के रुकी।

जो कुछ बीता यहाँ सभा-में था अभी
समाचार सुन चुकी प्रथम ही वह सभी।
अन्तःपुर में मचा पूर्ण आक्रोश था
थे सब रोदन-व्यस्त किसे ! तब होश था।
था ध्रुव निश्चय उसे अटल प्रण है सभी,
वीरों के व्रत भग हुए हैं क्या-कभी।
यही सोचकर और धैर्य को धारकर
अब वह उद्यत हुई शोक-नद पार कर।
पा नैमी आदेश दिव्य-सा रथ जुता
इन्द्रसेन निज पुत्र इन्द्रसेना सुता—
रथ-में बैठा भेज दिये मानस मिवा
आतुरता-की शोक-पूर्ण यह थी विदा।
कुण्डिनपुर ही बना उन्हें अब ध्येय था
गई केशिनी साथ सूत वार्ष्णेय था।
जो कुछ भी यह हुआ न था सब व्यर्थ ही
निज का प्रस्तुत किया दुखों क धर्म ही।

उनको भसते देख भीमजा रो पड़ी
मुक्ताओं-सी भगी कपोलों-पर झड़ी।
रोते रोते, लिपट गोद में वे भरे,
हृदय-खण्ड-से खण्डहृदय पर थे धरे।
और कहा-मुँह पोंछ, वत्स! जाओ अभी
धर्त जीव! भव-विभव सौख्य पाओ सभी।
यहर रहा है यहाँ दुखों-का सिन्धु-सा
आने, चन्द्र मुख देख सकूँगी इन्दु-सा।
रोक रहा कर्त्तव्य मुझे निज स्नेह भी
जहाँ प्राण यह वहीं रहेगी देह भी।
मैं पति-पथ-अनुगता न दुख से भय मुझे,
प्राण-पर्वों में प्राप्त सदा है जय मुझे।
तुमको रखकर साथ न रहती साथ मैं,
होती तब हा-स्वार्थ! सनाथ अनाथ मैं।
मनी हुई वे स्वयं समूर्त उदासियाँ—
हटा रहीं थी उन्हें पकड़कर दासियाँ।
आवश्यक आदेश सामयिक ले गई,
बच्चों को ले धात्र कशिनी थी गई।
लिये अपरिमित-भार दौड़ते बाण-से
वही अदव बढ़ रहे आज निष्प्राण से।
घूमी जब भीमजा पोंछकर नेत्र-जल
दीख पड़ा यह सभी उन्हें भ्रम-भ्रम।
साश्रुवदन आकारों कुमुदनी थीं खड़ीं,
सोदक पङ्कज तुल्य किये आँखें बड़ीं।
रोकर बोलीं—हाय! हुआ यह बहन! क्या,
अपने हाथों हुआ स्व-कुल का दहन क्या।
आकस्मिक यह हुआ अभागा क्यों-अरी!
डूब-रही मँझधार हमारी क्यों-तरी।

जाने दूँगी तुम्हें न मैं गृह त्याग कर,
जीयगी हम युगल एक के भाग पर।
वे भाई कुछ करें किन्तु, हम बहन हैं
एक भाग के भोग हमें सम सहन हैं।
ठान चुकी जो आप जानती हूँ सभी
बहन! तुम्हारा धर्म मानती हूँ सभी।
ठहरो यह दुख-घटा स्वयं फट जायगी
दुर्घटना जो घटी अभी हट जायगी।
आया जितना शीघ्र दोष कुल में यहीं
उतना ही यह शीघ्र हटे जानों यहीं।
बहन! मुझे परितोष तुम्हारी ओर से
पर मैं अब घिर चुकी विपद घन-घोर से।
यह न किसी का दोष भाग्य का ही कहो
जाओ धीरज धरो प्रिये! सुख से रहो।
है न मुझे अवकाश अधिक अब क्या-कहूँ
दुख को उनके साथ समझ सुख-सा रहूँ।
कह इतना वह और सभी को दंग कर
राज-सभा में गई नियम को भंग कर।
रोक रहीं थीं उन्हें रुदित दासी सभी
किन्तु न पाई रोक स्वयं किंच भी बसी।
जिस घर-में भी विपद-पाद पड़ते महा
उनका प्रथम प्रहार नारियों-पर रहा।
शोकोदक से पूर्ण घटा-सी वह बसी
लिए चले सकम्प वायु बनकर बसी।
नृप-गिरि से ज्यों सभा-मध्य टकरा-पड़ी,
रुका वेग तब नहीं लगी अविरल झड़ी।
आँखों ही से कहा नाथ! क्या-कर चुके
कुल-की धवल सु-कीर्ति स्वयं ही हर चुके।

एक वस्त्र को धार नृपति आसीन थे
राज्य हीन थे यदपि तथापि प्रवीन थे।
राज्य-चिन्ह से हीन कान्ति फिर भी वही
गरज रहा सुख-सिन्धु शान्ति स्थिर थी वही।
सम्राज्ञी को देख वदन निज नत किया
मानों निज अपराध स्वयम् स्वीकृत किया।
'उठो नाथ ! यह सोच न तुमको सोहता
विपिन-वास अब माग हमारा जोहता।
जो कुछ भी हो गया जान मैं सब चुकी
होना था अभिप्राय मान मैं सब चुकी।
पश्चात्ताप परन्तु रहेगा यह मुझे
आजीवन सन्ताप दहेगा यह मुझे।
क्यों न समय से पूर्व यहाँ मैं आ-सकी
निकल गई वह घड़ी न उसको पा-सकी।
गुरु-जन और अमात्य सभासद सब यहाँ,
सुजनोचित-गुण-वारि-पूर्ण-नद अब यहाँ।
सब के रहते हुआ यहाँ दुष्कर्म है
पूछ रही मैं यह क्या-इनका धर्म है।
देवर को यदि हुआ राज्य से स्नेह था
आर्य्यपुत्र - में हुआ इन्हें सन्देह था।
माँगा आकर मुकुट इन्हें थी यन्त्रणा
क्यों-न सभा में सभी उचित दी मन्त्रणा।
छोटों का अपराध सबदा क्षम्य है
और बड़ों-का माग महा-दुगम्य है।
क्यों-न इन्हें यह राज्य दिया तब प्रीति से
अथवा न पाई सभा तुम्हें अनरीति-से।
देवर ! तुम तो कहो हुआ क्या ध्यान यह
गया अचानक कहाँ तुम्हारा ज्ञान वह।

हुआ तुम्हारा अहित न कुछ मुझसे कहीं
भावी-वश भी कहा-अभीप्सित क्यों-नहीं।
तात ! एक क्या-निषध यहाँ तुम पर तभी—
वारा जाता राज्य महान् विदर्भ भी।
पर तुम सब निर्दोष अचल-गिरि सम-सुयश
भाई मै ही यहाँ मूल होकर कु-यश।
मैंने ही था देव-वर्ग क्रोधित किया
आज उसी ने पूर्व वैर शोधित किया।
शुभ-मति पर जो आज तिमिर यह छा-गया
सत्कुल में अपकीर्त्ति-दोष यह आ-गया।
किन्तु जानलें देव और सुनलें सभी
निश्चित-पथ से विरत न मै हूँगी कभी।
देवों-का वरदान तुल्य अभिशाप भी
होता स्वयं अनन्त दुरन्त विताप भी।
अत अभी दुख-अचल सामने शेष है
उसी अचल का राज्य-शासन तो शेष है।
उद्यत हूँ मैं उसे काटने के लिए,
पथ-में फँसे शूल छाँटने के लिए।
चलो नाथ ! अब राम जहाँ भी ले चले
पवर का यह राज्य इन्हें फूले फले।
शिशु तो गये विदर्भ केशिनी भी गई,
तरु-तल की चल रचो राजधानी नई।
'जाता हूँ मैं स्वयं देवि ! तुम बस रहो
मैं तो बह ही गया न अब तुम तो बहो।
नैषधलक्ष्मी ! करो राज-सुख भोग तुम,
वैदर्भी हो नहीं विपिन के योग्य तुम।
अपना व्रत मैं स्वयं सुमुखि ! पूरा करूँ
जो कुछ मैंने किया उस मैं ही भरूँ।'

'प्राण जाय रहे देह न यह होगा कभी,
जो कुछ है अनिवार्य वही होगा अभी।
पुष्कर पर फिर दृष्टि मगी-सी डाल कर
बोलीं-शोकावेग सयत्न सँभाल कर।
राज्य करो सम्राट्! हमें अब दो विदा
पर ऍ! यह तो अभी तुम्हारी सम्पदा—
पहने हूँ आभरण वस्त्र बहु-मूल्य भी
है अभीष्ट बस एक वस्त्र प्रिय-तुल्य ही।
इतना कह आभरण भिन्न करने लगीं
या-थ दर्शक-हृदय छिन्न करने लगीं।
पुष्कर नत-मुख मौन बद्ध-आसीन थे,
मानो जिह्वा थी न, हृदय-स हीन थे।
कलि का पूर्ण प्रभाव किये अवरोध था
क्या-कुछ यह हो रहा न इसका बोध था।
और सभी अति खिन्न खिन्न से हो रहे,
झर झर पड़ते अश्रु, कलप कर रो रहे।
कोस रहे थे सिसक सभी, गत-श्वास को
ठोंक रहे थे विलख बिलख हत-भाल को।
यदपि जानते सभी वन्द्य पति भक्ति को,
रोक रहे कर-बद्ध तदपि उस शक्ति-को।
मत जाओ हे देवि! न नृप भी जायेंगे,
राज्य गया हो यहाँ न जिसको पायेंगे।
देंगे तुम पर वार निपध धन धान हमी,
पूजें नित उठ तुम्हें यहाँ हो मत हमीं।
यदि दबी तुम गई यहाँ फिर क्या रहा
ध्यान ज्ञान सम्मान हमारा सब बहा।
वन-में यदि तुम गय साथ हम जायेंगे,
बिना तुम्हारे नेत्र चन कब पायेंगे।

तुम पर जो धन धान्य अचलाचल मान भी—
यह पर्यापित आज तुम्हारे प्राण भी।
'रोको मुझे न भद्र ! न अब रहना मुझे,
सम्राज्ञी एक आर्ये मही कहना मुझे।'
'तुम आओ मैं रहूँ ! न पथ च्युत हो सकूँ
यह मेरा साम्राज्य न इसको खो-सकूँ।
निर्भूषण भी वस्त्र-मात्र तन पर रहा
किन्तु, पूर्ण साम्राज्य अटल मन पर रहा।
सब ने निज कर्त्तव्य उचित पूरे किये
पर वे समभग्न क्षुब्ध सभी को चल दिये।
तीर्थों का जल-मात्र साथ वो शस्त्र थे
और देह पर वही मात्र दो वस्त्र थे।
नृप साधक बन चले सिद्धि वह हाथ थी
राज्य गया पर राज्य सुलक्ष्मी साथ थी।
विवश प्रजा रो रही पथों में थी डटी
'हाय राम ! क्यों आज न यह धरती फटी।
पुष्कर ही थे राजसभा में बस वहाँ
मूर्तिमान था स्वयम् कि असमञ्जस वहाँ।
रोते धोते छोड़ सभी-को वे गये
हँसी खुशी भी-साथ निषध-की ले गये।

निषध रहा निर्जीव-ही निकल चुके थे प्राण
पर, कलि-मुख पर वह उभर छिटक गई मुस्कान।

दशम सर्ग

जाते थे वे चले विपिन-कष्टों को सहते
किन्तु न अपना दुःख दूसरे से थे कहते।
गगन-स्पर्शी निकल चुके सुनिकेत सभी वे
छूट चुके धन-धान्य-पूर्ण अब खेत सभी वे।
उनका तो बस ध्यान पाप प्रक्षालन में था
सत्य-व्रत का मान पूर्ण व्रत पालन में था।
थी वह राज्य-समृद्धि न पर उनका मन हरती
तपोवनों-से भटक सके हैं कब ! मन भरती।
पड़ता ऊपर धूप जलाता जल कर भूतल
मात्रा से परिव्याप्त क्षुधा भी करती व्याकुल !
चुभते पथ में शूल शूल-सी उठती मन में
बदल रही था रंग प्रकृति अपना क्षण-क्षण में।
यहाँ धूप तप रही वहाँ छाया आ जाती
इधर ठंड लग रही उष्णता उधर सताती।
थककर जाते बैठ और फिर उठकर चलते,
चलना पड़ता विवश यदपि थे पाद मचलते।
तीर्थों का जल-मात्र साथ का ही पी पीकर
जाते थे वे चले भाग्य-बल ही जो जीकर।
पदर्मी भी यथा रमणी स्निग्ध न लगती,
घर से मर्मों-रूप अभागी तदपि थकती।
मुरम्भयी-सी सदा हाय ! प्यासा था छाया
फिरे हवा में उड़ी दिव्य वह घर की माया।
निज छाया सी हुई पड़े धरा में छाय
नृप ने चाहा बहुत कि वह कुछ कम ही पास।

पर वह पति से पूर्व न कुछ भी खा सकती थी
उस निरीह को देख स्वयं करुणा थकती थी।
भव्य पादांबुज राग धूलि में मिल जाते थे,
समझ स्वयं को धन्य रजस्कण खिल जाते थे।
पद-से कंटक काढ़ सरल सी रो पड़ती थीं
ताप-तप्त हिम-शिखा तरस सी हो पड़ती थीं।
चलते चलते उन्हें कई दिन बीत चुके थे
देह शक्ति के कोष निरन्तर रीत चुके थे।
पथ कष्टों से विदमित प्रत-र्माध हुआ था
जन्म-भूमि का मन्न उन्हें अ-ग्राह्य हुआ था।
रहा न उनको भेद दिवस में और निशा-में
बढ़े हुए जा रहे सु-लक्षित एक दिशा-में।
वैदर्भी को म्लान-देख नृप हत-से होते
देने का अवलम्ब घूम कुछ नत से होते।
धरो धैर्य हे प्रिये! भदय आ-जाने को है
वहाँ अरण्यज भक्ष्य कन्द-फल खाने को है।
गति के साथ पड़ा स्वर भी भैमी-का धीमा
स्वामी कितनी दूर निषध-की है अब सीमा।
है क्या-कुछ याँ-भक्ष्य जिसे हम खा-सकते है,
हो न निषध का किन्तु निषध-में पा सकते हैं।
प्रिये! आज ही हमें और बस चलना होगा,
अठरागस से आज आब ही मलना होगा।
करके हम आखेट यदपि कुछ खा-सकते हैं
और उसे खा क्षुधित क्षुधा-से पा सकते हैं।
होगा पर अन्याय वेश तापस का धरके
क्षुधा-पूर्ति यों करें जीव-हत्या हम करके।
हैं अवध्य निर्दोष, उन्हें हम क्यों-मारेंगे
कर पर-देह-निपात न हम यह तन धारेंगे।

निर्दोषों-को मार उदर जो अपना भरते
निद्य-कार्य, श्रम घोर आततायी ही करते।'
'आप शान्त हों नाथ! न था यह मेरा कहना
मुझे स्व-दुख से अधिक दुखद पर-का दुख सहना।
पाद प्राप्ति से पूर्व बहुत उपवास किये थे
देव-मूर्त्ति के निकट जागकर वास किये थे।
और आज जब स्वय प्राप्त हैं मै पद मुझको
सब देंगे उपवास न ये कुछ भय गद मुझको।
किंतु हाय! यह हुआ धूम' रो-पडीं अथाणक
मूर्च्छित होकर गिरी हरय था बडा भयानक।
दिया नृपति ने घूम तुरन्त सहारा उसको
आँखों-में भर अश्रु, स-शोक निहारा उसको।
बैठ गये भर उसे गोद में कर मुख नत-सा,
गगन-अङ्क में लगा चन्द्रमा अस्तङ्गत-सा।
जल के छींटे दिये हवा की व्यजनाम्बल-से
हुआ विगत-सा ताप, नेत्र वे खुले कमल-से।
सजग प्रिया-को देख प्राप्त कर तरु-की छाया
दे नृप ने बहु बोध, उठाकर उन्हें लिटाया।
'प्रिये! कर चुकीं पार निषध-सीमा-दुर्गमता
तुम्हें धन्य यह धन्य तुम्हारी अतुलित-क्षमता।
देखो, सम्मुख सु-भुमि! वृक्ष छू रहे गगन को
करके रवि से होड़ दिये हैं छाया वन-को।
कूज रहे हैं विहग बोलते हैं जलचर भी,
होता है आभास यहाँ है सुन्दर सर भी।
चलकर बस अब हमें वहाँ-तक ही जाना है
ठहर वहीं विश्राम प्रिये! कुछ दिन पाना है।
आओ बैठा तुम्हें पीठ-पर अपनी ले-लूँ
करो सनिक हग बन्द लेश मन्त्रों का खेलूँ

क्षण भर में ही वहाँ स्वयं को तब तुम पाना
रही न तुम में शक्ति कठिन है वैसे जाना।
"नाथ ! पीठ पर नहीं मुझे बस साथ चाहिए
प्रिय-संबल के हेतु स्व-सिर पर हाथ चाहिए।
ठहरो थोड़ी और शक्ति सञ्चित होने दो
निज पद-श्रम से मुझे न यों वञ्चित होने दो।
भार हूँ सेवार्थ न भार बनूँगी स्वामी !
मधु बनकर ही रहूँ न क्षार बनूँगी स्वामी !
धीरे से यों कहा मूँद दृग लेट गई फिर
बैठे थे नृप मौन धीर मन-भी था अस्थिर।
साल रहा था उन्हें संग रानी का आना
पुत्रियों का था क्लेश न पूर्ण अवधि का पाना।
वर्ष चतुर्दश मोह ! कष्ट प्राणान्तक माना,
है न प्रिया के योग्य पार उनसे पा जाना।
छाया सी है शेष अभी कितने दिन बीते
हुए हाय दुर्दैव ! तुम्हारे ये मनचीते।
सोच सोचकर भूप हुए थे पानी पानी
तब तक होकर स्वस्थ तनिक उठ बैठी रानी।
धीरे धीरे चली, स्व-पति से सबल पाती
देखी सम्मुख झील स्वच्छ-जल से लहराती।
खिले कमल से वहाँ मुदित जलजीव सभी थे,
देख धनुर्धर वहाँ चौंक उद्ग्रीव सभी थे।
पर, नृप-क्लान्ति निहार उन्होंने चिन्ता छोड़ी,
विस्तृत थी नभ-तुल्य झील वह लम्बी चौड़ी।
"प्रिय सुमुखि ! लो इधर विपथ की सीमा बीती,
बहुत दूर प्रियतमे ! यहाँ से अब वह बीती।
अब हो तुम निर्बन्ध करो जल पान यहाँ-पर,
कितना है रमणीक सुखद यह स्थान मनोहर।

पथ श्रम को कर दूर, शक्ति भी सञ्चित करता
तपोव्रत ! कुछ काल यहाँ स्वच्छन्द विचरतो ।
यों कहकर नृप कन्द मूल-फल कुछ ले आये
कर हल्का सा स्नान उन्होंने वे फल खाये ।
देख स्वच्छ सी शिला जमाया उस पर आसन
गया निपध यति आज मिला यह वन का शासन ।
रानी तो सो गई किन्तु नृप सो न सके थे
चिन्तायें थीं व्याप्त जिन्हें वे खो न सके थे ।
रह रह मधुर अतीत दृष्टि के आगे आता
उन्हें हृदय में हूल न उनको सोना भाता ।
जैसे तैसे विवश वहाँ कुछ काल विताया
पैरों के व्रण भरे देह ने बल-सा पाया ।
एक दिवस नृप उत्तरीय को छोड़ किनारे,
उतरे जल-में स्नान-हेतु कुछ गोते मारे ।
समझ वस्त्र को भक्ष्य, चील ले उड़ी गगन-में,
राज्य-नाश सा ही दुख नृप ने माना मन-में ।
अरे दुष्ट विधि वाम ! न तू यह भी सह पाया,
जान सका है कौन ! अलक्षित तेरी माया ।
अब वे आगे-बढ़े विपिन में समय बिताते
खाते वन फल मूल साँझ होते सो जाते ।
दो धोती ही दोनों का तन ढाँक रहीं थीं
छिद्रों में स देह मुकुल-सा झाँक रहीं थीं ।
शोकोदधि के पार चले धीरज को धरते
बीत गया बहु काल उन्हें यों-वहाँ विचरते ।

थी वन की वह एक साँझ कुछ हुई अँधेरी
मिला भटकता उन्हें अचानक एक अहेरी ।

भूख प्यास से दुखी धरे भी उसे उदासी
कहा, पूछने पर उसने हूँ निषध निवासी।
सुना निषध का नाम नृपति-तन-मन खिल आया,
बड़े भाग्य-से आज स्व-जन का दर्शन पाया।
कर उसका सत्कार वन्य-तरु-पुष्प-फलों-से
किया पूर्ण परितृप्त असात्त्विक मधुर फलों-से।
टिका रात-में वहीं अहेरी पाकर अर्चा,
थी वह बातें चली छिड़ी फिर नैषध-चर्चा।
कहो भद्र! क्या-हाल देश का आज तुम्हारे,
होंगे वहाँ प्रसन्न निवासी सब तो सारे।
बड़ा अभागा निषधराज था दुष्पथ-गामी,
सभी जुए-में जिता हुआ जो कानन-गामी।
सुना साथ से गया अधम वह रानी को भी
निकला उसका अनुज अभद्र बड़ा ही लोभी।
अच्छा ही यह हुआ कुफल नृप ने जो पाया
रानी थी निर्दोष उन्हें क्यों-व्यर्थ सताया।
कातर जैसे चोट तड़प उठता है प्राणी
त्यों-उठ बैठा तप्त रूखी आगत की वाणी।
कण्ठ-परिष्कृत किया सँभल मानों वह चीखा,
है न विश्व-में कहीं नृपति, नलराज सरीखा।
यद्यपि है यह सत्य जुआ नृप ने था खेला,
किन्तु न उनका दोष बन्धु! कुछ था उस बेला।
इसके पीछे छिपी हुई वह एक कथा है,
जिसके कारण आज निषध को प्राप्त व्यथा है।
कुण्डिनपुर में हुआ स्वयंवर रानी का जब,
हुए देव भी विकल उसी के पाने को तब।
साम-दाम या दण्ड भेद करके सब हारे,
पा-न सके वे किन्तु भीमजा-को बेचारे।

निषधराज की प्राप्ति मधुर देवी-का सपना
समझ यह अपमान मानिनी ने तब अपना।
वैदर्भी तब कुपित प्रगट थी देवी काली
बुरा सुरों-को कहा सुना है दी थीं गाली।
निषधराज को छोड़ अन्य को वरतीं ही क्या—
राजसुता थीं सती-शक्ति वे डरतीं ही क्यों।
कुपित देव थे अत उन्होंने नृप-मति फेरी
खेल गये जो जुआ रुका वह तनिक अहेरी।
भरकर लम्बा श्वास लगा फिर धूत सुनाने
हाँ' फिर, साहस किया बन्धु ! दमयन्ती माँ-ने।
पहुँच उन्होंने वहाँ सभासद सब फटकारे,
देख नृपति की ओर आभरण सभी उतारे।
अपने हाथों मुकुट अनुज के सिर पर रखकर,
दोनों ही चल पड़े रोकते सभी बिलख कर।
चलते चलते हुई महीपति की जो वाणी
जन जन में वह गूँज रही बनकर कल्याणी।
दोष न इसमें पुष्कर का भी है कुछ भाई!
यद्यपि समझे प्रथम सभी मे व अन्याई।
साधु पुरुष व लोभ न उनको है छू पाया
मायावी हैं देव फिरी यह उनकी माया।
अग्रज का सम्मान पिता-सम वे करते थे
ईश्वर-सम ही मान सदा उनसे डरते थे।
सुना है कि था एक मित्र जिसने तब आकर,
रच डाला सब काण्ड उन्हें बस हेतु बनाकर।
कहते तो हैं लोग धूत-में छल गये वे
कुछ भी हो पर वस्त्र-लेप हो चले गये व।
रुके न नृप जन रहे रोकते सभी रन्ति व
सत्यव्रत हैं भूप गय व्रत-पालन हित व

हाँ-यह सब सुन देख दुखी थी छोटी रानी
घर-में ही वे पड़ी रहीं दो दिन कल्याणी।
पिया न जल तक तनिक न वे कुछ बोलीं चालीं
बिना वहन के उन्हें काटता था घर खाली।
दो दिन पीछे उठी चलीं वे भरी घटा-सी
राज्य-सभा में गईं दमकती दिव्य-छटा सी।
छूकर पति-के चरण अश्रु भरकर यों-बोली
भरी न होगी नाथ! अभी यह रीती झोली।
यह लो अपनी शेष सम्पदा शीघ्र सँभालो
वन्दि जनों से यशोगान सोल्लास कराओ।
कहती जातीं प्रसग आभरण रखती जाती
सिसक सिसक रो रहीं देखकर फटती छाती।
दमयन्ती ने जहाँ उतारे निज आभूषण
पटके उसने वहीं समझकर निज सब दूषण।
और स्व-पति से कहा आज तो कोप भरा है
कहो किन्तु सम्राट्! मुकुट क्यों अलग धरा है।
मन के दुस्सकल्प तुम्हारे सज्जित हैं सब
किन्तु पितर तो लाज-सिन्धु-में मज्जित हैं अब।
पतिव्रता मैं साथ तुम्हारे मर-सकती हूँ,
जग-भर का दुख-त्रय शीश पर धर सकती हूँ।
इस दुष्पथ-में नहीं पैर, पर अपना दूँगी
यह दुष्कृत है मैं न भागिनी इसमें हूँगी।
अन्यायार्जित राज्य बसाकर राक्ष करेगा
गये प्राण तो शेष रही अब लाज हरेगा।
ज्वलित अग्नि-से मोद मानकर मैं खेलूँगी,
लोगों-का अपवाद स-हर्ष सभी झेलूँगी।
विषम-नरक-के-ताप सभी मैं सह सकती हूँ
किन्तु, न अब क्षण एक यहाँ पर रह सकती हूँ।

राज्य-कुलिप्सा जिसे कि समझा था अरुणाई
टगे गये हम स्वयं पुती मुख-पर बन स्याही।
भाई से छल आह! कौन फिर सच पावेगा
त्राहि त्राहि रव विकट निषध-में सब आवेगा।
राज-वधू की आग प्रजा-का भी फूँकेगी
धामों-यहाँ उलूक न अब कोयल कूकेगी।
नृप-का तो हो गया कपट-से निष्कासन है
गये विपिन में सिंह रिक्त यह सिंहासन है।
नैषध-लक्ष्मी हाय! विपिन-में साथ गई हैं
वैदर्भी के लिए कपट की फाँस नई हैं।
हम तो था अनजान न सोचा सपनों-में भी
होना है छल-छिद्र राज्य-हित-अपनों-में भी।
अच्छा ही यह हुआ न पहले जान-सकी मैं
पितृ-तुल्य सो बच गया न उसको सान-सकी मैं।
जब तक प्रायश्चित्त न इसका हो-जावेगा
चन्द्र वंश का कलुष न जब तक धो-जावेगा।
[illegible] से पाप न यह जब तक क्षय होगा
जब तक यह साम्राज्य न फिर नैषध-सम होगा।
[illegible]-आवेंगी यहाँ न चलकर नैषध-रानी
अपना अपहृत भाग न जब तक पावें मानी।
तब तक के ही लिए, अटल मुझको अब जाना
अपना ही भावन स्वयं मैंने अब माना।
मैं दूना तप करूँ पाप दो-का है धोना
बना रहे यह तुम्हें तुम्हारा चाँदी-सोना।
कुण्डिनपुर का भस्म न कर दे यह चिनगारी
छोड़ रही हूँ यहीं सम्पदा सब तुम्हारी।
इतना कह हो वस्त्र-शेष निज रूप-सुहाया
कुण्डिनपुर को चली-गई वह नैषध-माया।

घर घर-में ये गीत उन्हीं के घूम-रहे हैं,
गा-गा जिनको निषध-निवासी झूम रहे हैं।
सौस रोक सुन-रहे सजग हो राजा रानी,
सूख चुका था निकल निमल आँखों का पानी।
राजा का संकोच भीमजा मुख की सानी—
देख न पाया प्रतिथि घिरी थी रजनी काली।
सरस कथा यह भद्र! सुनाई तुमने सुन्दर,
कहो किन्तु निष्पाप भुवन क्योंकर हैं पुष्कर।
हाँ-भव वह भी सुनो सुनाता हूँ मैं भाई
मैं जो कुछ सुन चुका न है पुष्कर प्रयाई।
राज-कथा की बात प्रथम मन मेरे जैसा—
जान-सका हूँ कहाँ यदपि प्रत्यय है ऐसा।
पर सब समझे गीत बने अब ये घर-घर में
गाते हैं बाल-बाल वृद्ध सब ऊँचे स्वर-में।
पथ-वासों पर साथ घूम गायक गाते हैं
सुन जिस को सद्भाव जनों-में भर आते हैं।
हाँ-तो राजा चले गये जब वन-को ऐसे
पुष्कर थे गभीर धीर सागर हो जैसे।
होने लगा विलाप उग्र नृप-के जाते ही
समझ गये निज पाप स-जगता कुछ पाते ही
किसी से न कुछ सुना न वे ही ये कुछ बोले—
पिये-रहे वे तरल गरल-सा निज-कर घोले।
सिंहासन-पर धरा मुकुट वे बैठे नीचे
दो-दिन तक सो-रहे सोचते निज दृग-मीचे।
जब उनको सुध हुई तभी बोले-चिल्लाकर
करो उपस्थित प्रभो, प्रथम पातक को लाकर।
लाओ लाओ शीघ्र जहाँ पावे वह पातक
प्राण-दण्ड दो उसे वही इस कुल का घातक।

और मुझे हाँ मुझे, सभी मिल मुझ-पर थूको,
ज्वलित अग्नि-में शीघ्र झोंक दो अब मत चूको।
अपने घर-में मैंने ही यह आग लगाई
विषम तीर-का लक्ष्य बनाया अपना भाई।
महामात्य ! अब गुप्तचरों-को सत्वर भेजो
निषध-सम्पदा बिखर गई तुम इसे सहेजो।
जैसे भी हो शीघ्र भ्रात्र को खोजे-लावें
उनका यह साम्राज्य उन्हीं के चरण चढ़ावें।
हुई परीक्षा विफल रहा मैं बन अन्याई
धन्य तदपि जो सफल रहे मेरे ही भाई।
अब कुसंग विष-सम नाशक विष विषम नहीं है
मुझ-जैसा हत भाग्य विश्व-में अधम नहीं है।
देखेगा अब कौन ! हुआ यह असित-वदन है
मेरे हित अब निषध, बना यमराज सदन है।
इतना ही कह सके वहाँ नयनों-से पानी
आ-पहुँची थीं सभी वहाँ पर छोटी रानी।
यह मैं कह ही चुका वहाँ-पर फिर जो बीता
चली गई झकझोर उन्हें वे यथा पुनीता।
उनका सभी विधान विनत हो सहा उन्होंने
थे वे अविचल मौन न कुछ भी कहा उन्होंने।
चली गई जब प्रिया उन्होंने तब दृग-खोल
भर लम्बा-सा साँस व्यथित धीरे-से बोले—
धन्य देवि ! तुम धन्य ! धन्य कुण्डिनपुर-रानी
अपने ही अब योग्य किया यह तुमने रानी।
यों-कहकर रो पड़े वह चली दृग-जल-धारा,
शासन भी यह प्राप्त लगी उनको जिम कारा।
जग नम उन्हें जनों ने धीरज देकर,
भेज दिये सब ओर मर्म-के योग्य गुप्तचर।

बीत गया बहु काल खोजकर सभी थके हैं,
पर निज नृप-का भेद न कुछ भी जान सके हैं।
गालव का भी वृत्त न है अब तक कुछ पाया
छिपा मरा या कहीं कुफल दुष्कृत का पाया।
कापालिक-ही यन्त्र आज निज तन-पर धारे—
चला-रहे हैं काम नलानुज मन को मारे।
राजतन्त्र गतिशील रहे यह शिथिल न होवे
अपनी विद्युत दिव्य विमलता निषध न खोवे।
यही सोच युवराज यत्न में लगे-हुए हैं,
सभी नागरिक साथ उन्हीं के लगे-हुए हैं।
सिंहासन नृप-हीन मुकुट उस पर रहता है,
मानो निज दुर्व्यथा मौन-ही वह कहता है।
घेरे रहती उन्हें सर्वदा भरी-उदासी
चला रहे युवराज राज-को हो सन्यासी।
आयेंगे ही निषधराज पथ देख रहे सब
एक सोच पर विकल सभी-को करता है अब।
नृप प्रण के अनुसार आज विश्वास यही है
छिपे-हुए सम्राट्, बने ध्रुव पास कहीं है।
निज-व्रत-पालन-हेतु सभी कुछ सह-लेंगे वे
वीर-पुरुष समयानुसार ही रह-लेंगे वे।
किन्तु विश्व-सुन्दरी अनघ वे वीणापाणी—
चली गई हैं स-हठ साथ उनके माँ रानी।
कमल-कोमला, विमल अ-कलुष अजरा-अमरा-सी
कैसे-होंगी हाय! राज-महिषी वे दासी।
यदि वे-दासी हुईं प्रलय ही हो जायेगी
निषध प्रजा निज-यत्न न अपना दिखलायेगी।
फट-जायेगी आज धूल-में मान मिलेगा
होकर कम्पित भीत अचल ब्रह्माण्ड हिलेगा।

जिसकी दासी-बनें कुल-क्षय उसका होगा,
धर्म-पूर्ण भी राज्य पाप-मय उसका होगा।
निषध-प्रजा को यही साथ क्या बसी गई-थे,
कल्प-लता भी कभी दुर्गों-से दली गई-थे।
अच्छा होता साथ न नृप उनको ले जाते,
रह जाती वे यहीं निषध-जन दर्शन पाते।
मान-रहे मन व्रत न मधुरा नृप छोड़ेंगे
जिस पथ पर बढ़ गये न उससे मुँह मोड़ेंगे।
भेद मले तो सहट राजमहिषी को तत्क्षण—
लौटा लावें यही सोचकर खोज रहे जन।
जो भी उनको खोज सकेगा जन-पुण्यवश
बहु-धन देकर उसे करेगा राज्य पुरस्कृत।
हम जैसों-का भाग्य कहाँ वे हमको पावें
बीत गई अब अर्ध-निशा अच्छा सो-जावें।
कर थोड़ा विश्राम सवेरे ही जाऊँगा
बिछुड़े सगी सभी खोज उनको पाऊँगा।
मिले भाग्य-से मुझे धन्य तुम मुनि हो कोई
बाण प्रस्थ बनस्थ सुधर्म-धुनी हो कोई।
सुधन-तपोवन-पूत तुम्हारा हय-हारी है
मानो सुर-कर-पली किसी कुसुम-क्यारी है।
या-कह वह सो गया वहाँ नीरवता छाई,
नृप-दम्पति पै सजग उन्हें कब निद्रा आई।
जागृत होकर भी न परस्पर बात रहे वे
सुख-दुख झोंके थमे उन्हीं-में डाल रहे वे।
उठ प्रभात-में कर प्रणाम वह गया अहेरी
नृप भी हुए प्रवुद्ध न करके कुछ भी देरी।
अब न निरापद समझ वहाँ-रहना निज मन-में
रानी को ले संग बढ़े नृप आगे बन-में।

भोगा होकर दास सु-नृप यह करना ही है
प्रारब्ध-शोध के साथ पाप यह हरना ही है।
किन्तु न है निष्पाप, साथ रानी का रहना
आता नृप को याद अहेरी का वह कहना।
'कमल कोमला विमल धवल अजरा-अमरा-सी
कैसे होंगी हाय! राजमहिषी वे दासी।
नृप-को यह हा सोच व्यथित अब नित करता था
वन शोभा-का-पुञ्ज भी न उसको हरता था।
होकर पर गंभीर, छिपाये रखते मन-में
आता जब तब दमक वेग विद्युत-सा घन-में।
वह विशाल वन भाग दिखाते थे रानी को,
होता यदि कुछ श्रम बताते वे रानी को।
"देखो यह द्रुम प्रिय! मोद देता है मन-को,
छूते गिरि-उत्तुङ्ग-शृङ्ग वे उधर गगन को।
इधर महापथ यही अवन्ती गिरि पर जाता
ऋक्ष-स्थान, गिरि ऋक्षवन्त इस पर ही आता।
इधर महाघन विन्ध्य, सजग दक्षिण-का प्रहरी,
धोती इसके पाद पयोष्णी सरिता गहरी।
अचल पदामृत लिये-सिन्धु-को देने जाती,
पाने को प्रिय-अङ्क, मधुर-स्वन कल-कल गाती।
रहते ऋषि मुनि यहाँ प्राप्त-कर इसके तट को—
होकर मोह-विमुक्त मुक्त कर जग झंझट को।
हैं तप-सागर-मीन लीन स्वच्छन्द यहाँ-वे,
मिलते हैं बहु मूल-फूल-फल-कन्द यहाँ-वे।
उसी ठौर से एक मार्ग कोसल-को जाता,
अन्य विलम्बित-मार्ग दक्षिणा-पथ को पाता।
इन दोनों से अलग विदर्भों-का यह पथ है
हम दोनों की मिलन-भुक्ति का जो मधु मथ है।

सुन विदर्भ का नाम चकित सी थीं वदर्भी
ठिठक-गईं भय लगा चकित सी थीं वैदर्भी।
धक धक करके लगा, फूल-सा हृदय धड़कने
वह वामेतर-दुरित नेत्र भी लगा फड़कने।
बैठ गईं वे हृदय थामकर अपना सहसा
उनको कुछ आभास आज भय-लगा असह्‌-सा।
प्रिय-से वह निज व्यथा उन्होंने धीरज पाया
वैसे ही ज्यों सलिल बिन्दु ने नीरज पाया।
हो न सका सन्तोष, निहृत-सी फिर वे बोलीं—
नृप-मुख-पर थी लगीं, मृगी-सी आँखें भोली।
अवधि-पूर्व हम निषध न लौटें ध्रुव ! निश्चय है,
पर यदि चलें विदर्भ श्रम-को वहाँ न भय है।
दिखलाते क्यों-मार्ग मुझे-ही कुण्डिन-पुर-का,
क्षान्त रहे प्रतिबिम्ब दुखद-यह कुण्ठित उर-का।
भोग लिया वह कष्ट तदपि अपशकुन अभागे
करते मुझको सजग कि है दुख तो अब आगे।
पावेंगे सत्कार वहाँ व्रत-भंग न होगा
यह सब वन का क्लेश हमारे संग न होगा।
बुरे समय के लिए, हुआ करते हैं अपने,
मधुर वचन तब कहा-प्रिया-से हँसकर नृप ने।
था न प्रिये ! यह मार्ग तुम्हें पथ दिखलाने का
है न सुखेच्छा मुझे, न भय है दुख पाने का।
व्रत पूरा कर रहा प्रिय ! मैं दीन नहीं हूँ
वचन-बद्ध हूँ किन्तु शक्ति-से हीन नहीं हूँ।
कर सकता हूँ सभी प्राप्त, मैं निज भुज-बल से
पर, हो छलना बुरी वही अपने ही छल से।
जाऊँगा न विदर्भ शुभे ! मैं यों-व्रत ले कर
हाँ यदि तुम जा-सको वहाँ कुछ धीरज देकर।

सो प्रसन्न मैं रहूँ तुम्हारा भी हित होगा
तुमको दुखी न देख न दुख मुझको नित होगा ।
प्राणेश्वर को छोड़ भला क्या धन पाऊँगी
नाथ ! तुम्हारे साथ नरक-में भी जाऊँगी ।
यों-कहकर रो-पड़ी कली-सी वे मुरझायीं
नृप से पा बहु-बोध शान्ति कुछ मन ने पाई ।

आई वह भी रात विपिन-में तरु-के नीचे
चिन्ता-में थे लीन महीपति आँखें-मीचे ।
पा न सके थे आज भाग्य-वश वे कुछ भोजन
क्षुधित-प्रिया को देख विदीर्ण हुआ था तन मन ।
कमल-कोमला विमल अकलुष अमरा-अमरा-सी—
कैसी है ये आज उन्हें भी यही उदासी ।
देख रहीं थीं टुकुर-टुकुर उनका मुख-रानी
कर नीरवता भंग हुई वीणा-सी वाणी ।
'जाने बस अखिलेश ! कि इसमें कौन ! भेद है
नाथ ! किन्तु हो रहा स्वयं पर मुझे खेद है ।
भाग्यहीन मैं हुई भाग अपना पाने से
बढ़ आपके दुख अधिक मेरे आने से ।
आई थी इसलिए कि विपदायें बाटूँगी
होंगे कण्टक जहाँ पुष्प उनसे छाटूँगी ।
छोड़ दिया सब राज-पाठ लघु-से शिशु अपने
विपदावधि-में बहा-दिये सारे मधु-सपने ।
सूखे-छिपे भी जिधर चरन हमने निज फेरे,
मिला वहीं दुर्भाग्य हमारा हमको-घेरे ।
स्वस्थ रहो तुम नाथ ! सभी कुछ है फिर वन-में,
इस विधु-मुख को देख, मोद पाऊँगी मन-में ।

हल्का करने चली किन्तु अब भार बनी हूँ
सौम्यवादिनी हाय! विषैला-प्यार बनी हूँ।
अपना तो कुछ नहीं पड़ग सो मेलूँगी
सच कहती हूँ नाथ! समुद दुख-से खेलूँगी।
पर, नत आनन अपनी सुध बुध सभी विसारे—
सुप्त-सिन्धु-सा मौन दुखद यों-तुमको धारे।
सहन न होता उसे देख भय-सा लगता है
भावी भय का रूप प्रकम्पित-सा जगता है।
रहे दुःख वे कौन! न हमने हैं जो झेले
विपदा के विद्रूप सभी तो हमसे खेले।
कहता है मन अभी और कुछ सहना होगा
जिस विध चाहे देव उसी विध रहना होगा।
यद्यपि सब सुख छिना आज मैं हूँ अपनकी
इन चरणों-की किन्तु अबाध रहूँ मैं सकूी।
है प्रभु-पथ में टेर, अभागी की यह नत-सी
इच्छा है बस यही और तो हुई विगत-सी।
देव! न जाने दशा आज मेरी है कैसी,
अब तक मन में कड़ी न थी व्याकुलता ऐसी।
इतना ही कह सकी उसाँस उभर कर आया
हिड़की-सी बँध गई अधर में कम्पन पाया।
मानो पाकर ताप बहा हिम बनकर पानी
भरा कण्ठ हो गई रुद्ध उसस ही वाणी।
महिषी की बह चली फूट कर दृग-जल-धारा
उद्वेलित नृप हुए, शोक से उसे निहारा।
अनायास नृप-हस्त भीमजा-शिर पर आया
ताप-निवारण हेतु, लता-पर घन-सा छाया।

भद्र ! यह क्या-विगत-मान तुम किधर वही हो
देव विजयनी तज राशि क्या-भाज नहीं हो।
सोचो सोचो भरी सभा-में तुमने कैसे—
किये भमर निस्तेज भाज रोती हो ऐसे।
दुख-में ध्रुव ! समित्र एक धीरज है जग-में
करता वह ही पार भथाह विपद-नद-मग-में।
सुख न रहे दुख पड़े न ये भी क्षेप रहेंगे
किन्तु तुम्हारी सुयश कथा जन सदा कहेंगे।
गया यदपि सर्वस्व भौर हम हुए बिगाने
सच कहता हूँ देवि ! न पर मैंने दुख जाने।
पद पद पर सिर पड़ीं विपद पर नहीं थका मैं
हाँ-दुख क्या-यह प्रिये ! भाज ही जान सका मैं।
जिसने मेरे लिए देव भी किये तिरस्कृत
प्राणों का तज मोह, लिया जिसने मेरा व्रत।
पुण्यमूर्त्ति तुम वही भाज असहाया रोती
लाज-निवारण-हेतु, फटी सी तन पर धोती।
धिक धिक मुझको प्रिये ! अधम यह जीवन पाकर
कब ! रख सका सँभाल दिव्य तुमसा धन पाकर।
रख न सका मैं ठीक सहचरी मति गति को भी,
पाल सका निज-हाथ न अपनी सन्तति को भी।
अपने से हो भाज स्वयं मैंने मुँह फेरा,
मुझे न देखें मनुज, व्याप्त यह रहे अँधेरा।
गला भूप का रुँधा विकल हो स्वर भर्राया
महिषी-दृग-का सलिल भूप नेत्रों में छाया।
कण्ठ स्वच्छ कर भौर शक्ति सी सञ्चित करके,
भीम सुता ने कहा-नृपति से तनिक उभर के।
भाई थी मैं साथ करूँगी दुख निवारण,
बढ़ा किन्तु यह घोर अमाया-मेरे कारण।

मुझे न कुछ दुख नाथ ! भले ही हूँ अघनङ्गी
मेरा दीप्त सिंदूर माँग-में जीवनसंगी।
माया मुझको ध्यान थी कि मैं नैषध रानी
द्रवित इसी से हुआ हाय ! आँखों का पानी।
अबला हैं हम भरा सघन आँखों-में जल है
कल कल करता कहीं विकल बहता छल-छल है।
व्याकुल तुमको देख हाल क्या होगा मेरा
नय-विधु-मुख मुस्कान मुझे है दिव्य उजेरा।
प्रकृति-भीरु हम दीन-हीन अबला होती हैं
स्व-जन-सोच को देख सहज विकला रोती हैं।
पुरुषों पर हम भार रही हैं और रहेंगी
जीवन का आधार छोड़ हम किधर बहेंगी।
त्यागा तृण-सा राज्य माग अपना भ्राता-हित
किया दुखों को वरण, निबाहा निज-व्रत समुचित।
व्रत पालन के लिए कष्ट यों कौन ! सहेगा
यदि तुम धिक धिक हुए अन्य फिर कौन ! रहेगा।
आते हैं दुख सदा कलुष मन का धोने को
दीप्ति-दान क्यों अग्नि-शिखा करती सोने को।
हर्षित हूँ मैं और रहूँगी शोक हरो अब,
हो तुम विश्रुत सुभट ध्यान बस यही धरो अब।
एसा कहकर मौन हुई मानों, वह बीणा
(हो अनन्य तुम धन्य देवि ! है यह ही जीना।)
हुए स्वस्थ से भूप प्रिया का वदन विलोका
अपना दुख का वेग स-श्रम हो सहसा रोका।
बोले—यह नारीत्व अबलता स्रोत नहीं है,
कान्ति-मान नारीत्व-तुल्य, हिम-धौत नहीं है।
दीन हीन तुम कहाँ, प्रतीक तुम्हीं-हो बल का,
तुम्हीं निवारण-मात्र देवि ! सशय का छल-का।

विधि की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि पुरुषत्व यहाँ है
उसी शक्ति-पर पूर्ण-विजय नारीत्व रहा है।
अबला हो तुम किन्तु विपद में बल हो तुम ही
विश्व मरु-स्थल है यह इसमें जल हो तुम ही।
है न मुझे कुछ शोक राज्य से दीन हुआ मैं
था मेरा वह कहाँ कि जिससे हीन हुआ मैं।
मात्र धरोहर जनता की वह मैंने पाई,
आज उसी का संरक्षक है मेरा भाई।
जो मुझसे भी श्रेष्ठ गुणी सुन्दर मानी है
पहले से भी अधिक समृद्ध राजधानी है।
नियति चक्र यह अनवधान गति-शील रहेगा
मुझे जुआरी किन्तु सदा यह लोक कहेगा।
जैसा मैं ही द्यूत निकृष्ट कर्म था मेरा
उसका प्रतिफल भोग विशुद्ध धर्म था मेरा।
उसमें भी तुम हाय! भागिनी बनकर आई
अब! है यह स्मरण-मात्र मुझको दुखदायी।
बच्चों-के ही संग विदर्भ तुम्हें जाना था
अति दुख यह मार्ग न तुमको अपनाना था।
अस्तु! हुआ सो हुआ प्रिये! अब तुम सो जाओ
कर निद्रा को प्राप्त शान्ति तुम निर्भय पाओ।
घूम रहे सर्वत्र हिंस्र-पशु आखेटक बन
सुनो उधर कर रहा सिंह वह गर्जन तर्जन।
भोंय भोंय कर रहा विपिन रो रहीं शृगाली
हुँ-हुँ-करती बीत गई आधी निशि काली'
'पर, स्वामी! सुख भोग किया जब साथ तुम्हारे,
सौंपा निज सर्वस्व स्वय ही हाथ तुम्हारे।
आज दुखों-को देख भीति क्या-उससे पाती
वन-में भटकें आप और मैं मौज उड़ाती।"

यों-कह लेटी वहीं घास पर तरु के नीचे
सोच रही चुपचाप विगत कुछ निज दृग मींचे।
यों-ही सुनती स्वयं स्वयं से कहती-कहती—
सोई थी वह भाव-सिन्धु-में बहती बहती।
भेंट अङ्क-में लिया नींद ने सभी भुलाकर
उठी स्वयं ही भूल न कुछ भी आश्रय पाकर।
सोतीं थीं माँ चन्द्र वदन पर किन्तु जगे थे
उस पर सजग चकोर नृपति के नेत्र लगे थे।
देख रहे चुप-चाप ठगे भावी की क्रीड़ा
फुला रही थी वक्ष उभर भीतर उठ पीड़ा।
हाथ धनुष पर एक एक मन मस्तक पर था
तिमिर-पुञ्ज मे दीप्त-रत्न-से दबा अधर था।
श्रद्धा-सी थी नमित शयित चरणों-में रानी
रक्षा करता धर्म मग्न होकर नृप मानी।
आँखों-में थी दया और विक्षुब्ध हृदय था
वज्रापात कर रहा उसी पर विगत अनय था।
गहन-सिन्धु मन बना विचार ऊर्मि लहराती
पातीं किन्तु न कूल परस्पर लड़ बहराती।
अवश-मूर्ति नृप प्राण किन्तु फिर रह भटकते
आश्रय था बस एक जहाँ-पर पहुँच अटकते।
मुझको तो ध्रुव ! दिया वचन है पूरा करना,
किया कर्म आ पड़े फलागम निश्चय मरना।
कष्ट-में पड़ अधम दुरात्मा जो मैं जाय
ठोकर खा खा उठे खोज सत्पथ को पाय।
निरपराध निष्पाप कष्ट भोग क्यों रानी
कहना माना नहीं व्यर्थ हमने हठ ठानी।
शमन रोमसा विमल धवल चमरा-चमरा-सी,
हुई हाय ! यह आज स्वयं ही मृग-जरा-सा।

ओह! कण्टकित-भूमि लपेट फटी-सी धोती
चन्द्र वंश की लाज राज-महिषी यह सोती।
सुर-दुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त कर बड़ी हुई है,
अब मृग भक्षित-शेष कुशा पर पड़ी हुई है।
यही अनिन्द्य स्वरूप देखकर नेत्र लुभाये
गाय हंस ने विरुद मुग्ध हो जिसके गाये।
दिव-सम कुण्डिननगर जहाँ-यह ख्याति जगी थी
सुर-नर सब-में जिसे प्राप्ति की होड़ लगी थी।
वही निराश्रित बहिष्कृता-सी दुख पगी अब
इसकी शयन-समाधि वट के तले लगी अब।
घेरे हैं अब ममक असूर्यपश्या थी जो
पड़ी उघाड़ी यही अ-पुण्य-अदृश्या थी जो।
मान रही यह मुझे कि मैं इसका सबल हूँ
इस अबला को देख किन्तु मैं स्वयं अबल हूँ।
इसकी यह दुर्दशा स्वयं मैंने ही की है
नरक-यातना हाय! इसे मैंने ही दी है।
किये पाप जो स्वयं उन्हें मैं ही तो धोता
पर पापी तो भरी नाव मँझधार डुबोता।
देख भिक्षुणी इसको छाती फटती तो है
पद-नीचे से धरा अचानक हटती सी है।
हाँ, अब भी यह मुझे छोड़ यदि सके जाये
अनायास ही वहाँ अभीप्सित सुख का पाये
सुखी रहे यह मुझे, इसी से शान्ति मिलेगी
पितृ-पद स्नेहिल उधर सुरमती लता खिलेगी
इसको समझा बुझा यत: पर बस लौटाऊँ
किया कर्म जो स्वयं स्वतः ही फल पाऊँ
पर, पति-पद-अनुगामा मिलन-में गल सकती
सती शक्ति यह स्वयं अनल में जल सकती

होगी क्या व्रत-निरत भला समझने भर-से
यदि यों आती सौट न जाती ही तो घर-से।
अच्छा हो यदि इसे छोड़ आऊँ मैं सोती
पहुँचेगी तब यह निश्चय ही मैके रोती।
होगा पर विश्वासघात जो यों छोड़ूँ मैं
लिया सुरक्षा-भार और अब मुँह मोड़ूँ मैं।
मण्डप नीचे अनल-देव को साक्षी करके
'हस्त से गृभ्णामि' कहा श्रुति-मंत्र उचर के।
होगा मिथ्याचार करूँ छल छद्म अवश-पर
पुत जावेगी और कालिमा धवल सुयश-पर।
रहा कहाँ-यह धवल पड़ा पर अब तो फीका
खेल चुका जो द्यूत कुमति-वश प्रथम अनीका।
राजा था तब बुरा बुरे के लिए किया था
राजपाठ सब भया दाव पर जिता दिया था।
आज रङ्क बन, बुरा भले के लिए करूँ मैं
हुई हानि जो एक दाव से और भरूँ मैं।
करूँ कार्य अब वही छिपा जिसमें इसका हित
भाँकि यह ससार, हुआ समुचित या अनुचित।
निश्चय सोती-हुई प्रिया को छोड़ चलूँ मैं,
रग-गन्ध के लिए सुमन को और दलूँ मैं।
पर, मैं इसको छोड चला यदि बन में ऐसे
फिरते हैं मुँह फाड हिंस्र-पशु कैसे कैसे।
पाकर इस निरीह न क्या-ये खा जायेंगे,
गुहा-द्वार पर सिंह स्वय भोजन पायेंगे।
हो जीवन का अन्त न कुछ भी युक्ति चलेगी,
पर तब भी हित निहित विपद से मुक्ति मिलेगी।
है यह तप अनिन्द्य करे जो स्वय उजाला,
बन में अग्नि पड़ जाय, आततायी न पाला।

होगा तब फिर दृश्य, पुरातम कुण्डिनपुर का
जागृत हो वह सती तेज, सोया जो उर का।
तब यह लघु-सी खड्ग हाथ में इसके होगी
किये कर्म का कुफल स्वयं भोगे वह भोगी।
कौन ! विश्व-में शक्ति इसे जो बस-में करले
कर इसको निरुपाय शील इसका जो हरले।
सोच रहे थे भूप एक झोंका-सा आया
हुआ देह गतिमान हृदय ने निश्चय पाया।
सहज भाव से उठे न आहट हो कुछ जिससे
करता हूँ हे राम ! आज मैं धोखा इससे।
सम्मुख पड़ी अचेत भीमजा भोली भाली
थे स्व-जाति का पक्ष धुरकती थी शिखि काली।
बहता था अब तीव्र वायु शीतलता धारे,
अर्ध-विवसना पड़ी भीमजा कुण्डल मारे।
हिम आच्छादित सिकुड़-गई थी हेमलता-सी
मानो हरि-पद हुई समर्पित भक्ति लता-सी।
जाग न जावे शीघ्र ध्यान राजा को आया
अपना आधा वस्त्र फाड़कर उसे उढ़ाया।
और खोल निज खड्ग पादप-में रख दी उसके
क्रुद्ध सर्पिणी तुल्य रक्त चाट जो झुमके।
लेकर दीर्घ उसाँस विवश भूपति ने त्यागा
धीरे धीरे कहा-मोह मैं बड़ा अभागा।
करना मुझको क्षमा देवि ! कुछ दोष न मेरा
इस दुष्कृत से स्पष्ट प्रिये ! परितोष न मेरा।
यद्यपि अपयश सदा जगत मेरी गायेगा
पर छुटकारा तुम्हें विपद-से मिल जायेगा।
देख रहे थे खड़े खड़े टकटकी लगाये
पर कुछ जागृति चिन्ह न सम्राज्ञी-में पाये।

निकले फिर यों वचन उठा सहसा मुँह ऊपर,
हे तरु ! इसके एक मात्र अब हो तुम भू-पर ।
निरालम्ब यह लता तुम्हीं को सौंप रहा हूँ
है निश्चय यह कु-पथ जहाँ पद रोप रहा हूँ ।
सूर्योदय तक इसे शान्ति से वत्स ! सुलाना
जागे तब यह पुण्य दया कर इसे भुलाना ।
धीरज देना बड़े प्रेम से शिक्षा करके,
भूख लगे फल-दान करो तब भिक्षा करके ।
साक्षी हैं वन-देव देवियाँ विटप लतायें
फैला यह नभ नील विशद जो दायें बायें ।
कोई भी यदि यहाँ और छिपकर सुनता हो
मुझ जैसा-ही भाग अभागा सिर धुनता हो ।
नक्षत्रो ! मत हँसो सुनो तुम भी ये बातें
मैं स्व-सहचरी-संग आज करता जो घातें ।
रोक रहा है अन्तरात्म आदेश नहीं है,
मेरा अपना छिपा स्वार्थ-उद्देश्य नहीं है ।
मुक्त इसका ही समझ पाप सिर पर धरता हूँ
प्रिया-श्रेय हित आत्म प्रवञ्चन मैं करता हूँ ।
समझ रहा हूँ महापाप यह नष्ट न होगा
इस पर जन मतिमान कहीं आकृष्ट न होगा ।
नोचेगा दिन रात न मुझको सोने दे यह,
मरण-शान्ति भी प्राप्त न मुझको होने दे यह ।
खोलेगा हाँ - द्वार नरक भीषण रौरव-का,
देख हँसेंगे कृत्य निशाचर भी मानव-का ।
इसके सभी प्रचण्ड दण्ड मैं सिर पर झेलूँ,
प्राण प्रिया के लिए यातना सारी झेलूँ ।
हो यह निद्रा-मुक्त आँख जब अपनी खोले,
कहना इससे विपिन ! तभी तुम होले होले

'शान्त रहो तुम देवि ! भूत दुख गया अभागा
पर, तेरे ही लिए तुझे उसने है त्यागा।'
छिपे-रहो हे चन्द्र ! विघातक हो तुम कुल के
मत-देखो ये भव्य-दृश्य मिथ - वश अतुल के।
यों-कहकर अस्त पड़,—प्राण भीतर घुटते थे
पकड़ रही थी धरा न पद आगे उठते थे।
सहसा सूखा-पत्र मधु-मिस तरु ने छोड़ा
उस आहट से सहम भूप ने आनन मोड़ा।
उलटे पैरों लौट निहारी रानी सोती
दीखी वह निस्पन्द न जागृति-सी गति होती।
क्षण भर उसको देख हृदय को पत्थर करके
हो सर्वस्व-विहीन बँधे-से आगे सरके।
दिग्भ्रम-सा हो रहा न कुछ भी ज्ञान उन्हें था
किधर चले जा-रहे न इसका ध्यान उन्हें था।
कन्धे पर था वसन हृदय में चिन्ता गहरी
खड़े हुए थे वृक्ष जागते हों ज्यों प्रहरी।
देख नृपति का कृत्य काँपते थे वे भय-से
था पर दृढ़-विश्वास भक्त में सती-विजय-से।
टिम टिम कर नक्षत्र भीत नृप को दिखलाते,
और रात के साथ ओस मिस अश्रु बहाते।
वन्य-लता परिपूर्ण प्रकृति का कुञ्ज खड़ा था
शयन-मग्न हो वहाँ तिमिर का पुञ्ज पड़ा था।
पथ-हत हो उठ चौंक, मोह कुछ अर्जित करता,
नत हो नृप-पद पकड़ कुपथ-से वर्जित करता।
पद-तल से दब, शुष्क-पत्र खड़ खड़ करते थे,
आहट सुन झट सजग विहग फड़फड़ करते थे।
बोला-पक्षी इधर, कुछ मानो चिल्लाया,
अरे अहेरी ! आज रात में भी तू आया।

प्रिया-कण्ठ निष्कपट लिपट जिससे हम सोये
मन्दबुद्धि ! आनन्द हमारे निधि के खोये।
निज कान्ता मधु प्रेम तुझे क्या रोक न पाया
पर तू वज्र कठोर तुझे क्या ममता-माया।
आगे थे मखाड़ झाड़ डेरा-सा डाले
दिन में भी पड़ जाँय जहाँ-पर गति को लाले।
कण्टकादि दुर्वार विघ्न पथ-में आते थे
उन सब पर पा विजय महीप बढ़े जाते थे।
था बस लक्ष्य समक्ष और होने से पहले
रानी से अति दूर पहुँच कुछ आश्रय गहले।
अब नभ में शशि पड़ देखते हृदय अनीका
छिपे वदन निस्तेज, रंग कुछ फीका फीका।
बीत चली थी रात पुती नभ-में अरुणाई,
प्रिय के आगे-हुई विहँसती ऊषा आई।
चहक-उठे सब विहग, तिमिर जगती-से भागा,
महक उठा बन प्रान्त विश्व सोते-से जागा।
दिनकर नृप पर हँसे 'प्रिया-से तुम अब भागे,
मेरी अपनी प्राण प्रिया है मेरे आगे।'
सुनता था पर कौन ! छिपाये अपनी पीड़ा
बढ़े नृपति जा रहे खेलती भावी क्रीड़ा।

बढ़ रहे थे, बाण-लक्ष्य भ्रष्ट-से,
आप ही कर लोक दोनों नष्ट-से।
प्राण पीछे रह गये तन जा रहा,
दिन उदित फिर भी तिमिर-सा छा रहा।
नष्ट-सी थी सोचने की शक्ति भी
और जगती-से उठी अनुरक्ति भी।
भूप के हित स्थान ही अब था कहाँ
डाल डेरा लोक जो ठहरा वहाँ।

एकादश सर्ग

उमड़ी पावस उसी वृक्ष के तले जहाँ सोती रानी
सदय-सजल तरु की आँखों-से टप टप बरस रहा पानी।
जड़ चेतन कैसा ही भी हो दया सभी में सोती है
सरसाता है रूक्ष शुष्क भी जब वह जागृत होती है।
रानी के उठने से पहले तारों ने मुँह ढाँप लिया
मन की भावी उथल पुथल को पहले से ही भाँप लिया।
पर, विधि नियम अटल है जग-में सुख दुख द्वन्द चला करता
सब को निज शासन में रखकर वह निर्द्वन्द्व छला करता।
साज सजा यह ऊषा रानी नई नवेली आई है,
उसके स्वागत-हित इस रानी ने भी ली अँगड़ाई है।
देखा जो रानी ने उठकर वहाँ न प्राणेश्वर पाये,
चकित चकित-मृग-शावक जैसे इधर उधर दृग दौड़ाये।
भय चिन्ता से दबा हृदय धक धक कर बैठा जाता था
बाँया नेत्र फड़क कर, उनके भय को और बढ़ाता था।
खड्ग पार्श्व-में अर्ध-वसन नृप-का अपने तन पर देखा
निष्प्रभ रानी हुई निहत सी, ज्यों प्रभात की विधु-लेखा।
जो न समझना था उन्हें था समझ गई वे विवश सभी
किन्तु सदय आशा ने उनको दिया तनिक विश्वास तभी।
हुए विदीर्ण हृदय-में पर विश्वास क्षणिक ही जम पाया,
बैठ गई सिर थाम अभागी, आँखों आगे तम छाया।
लेकर खड्ग उठीं वे सहसा इधर उधर फिरकर देखा
कहाँ नृपति ! वह देख न पाईं नृप के पद की भी रेखा।
मृत-हरिणी-सी भयाक्रान्त वे, मुख-की आभा पीली थी
हिचकी बँधी, कमल-सी आँखें अश्रु-धार-से गीली थीं।

घुघ बुध भूल सभी वे अपनी, क्रन्दन लगीं वहाँ करने,
ईर्ष्या वश निज शान्ति-सग ही लगीं शान्ति वन की हरने।
"जीवनमय! मेरे सुखदायक! प्राणाधिक हे प्राणप्रिय!
मुझे छोड़ इस-भाँति विपिन में किधर गये बनकर निर्दय।
आओ हे प्राणेश्वर! सत्वर, मुझे बचाओ, दया करो
हे सत्यव्रत! तड़प रही मैं निज दासी की व्यथा-हरो।
छिपे-हुए हो क्यों-पत्तों-में निकलो दृग दर्शन पावें,
ऐसी हँसी न अच्छी होती जिससे प्राण निकल जावें।
धर्मात्मा विख्यात आप हैं सोचो तो अपने मन-में—
उचित न है मुझसी अबला को देना छोड़ विजन वन-में।
विदित आपकी अनुरक्ता हूँ आप प्राण हो, मैं काया
छोड़ सका है कौन! भला-यों जीवित रहत निज छाया।
कभी न मैंने मन से भी हे नाथ! आपका बुरा किया
फिर क्यों-यों अपराध-हीन मुझ-सोती ही को छोड़ दिया।
बिना आपके भी जीवित हूँ, निकले हैं ये प्राण नहीं,
बस की बात न है यह मेरे अबला हूँ बलवान नहीं।
पत्र पुञ्ज-में छिपे खड़े तुम मैं भयभीत बुलाती हूँ,
किस कारण से सदय नाथ को इतना निर्दय पाती हूँ।
जल-बिन मीन-सी तड़प रही मैं, बन कर सलिल चले आओ
तप्तलता-सी सूख रही हूँ बादल बन इस पर छाओ।
आकर धैर्य मुझे दो स्वामी, विनय पदों में करती हूँ
और न इच्छा है कुछ मेरी, ध्यान आपका धरती हूँ,
प्राणाधिके! स्वर्ग में भी मैं तुम्हें छोड़ कर रह न सकूँ
चन्द्रमुखी! पल भर को भी मैं विरह तुम्हारा सह न सकूँ।
कहते तुम तो सदा यही थे, कहाँ प्रणय की बातें वे,
और कहाँ हैं हृदय-साक्षिणी छल भरी अब घातें ये।
हारे थके क्षुधा-से पीड़ित, किसी वृक्ष-के तले कहीं—
बैठोगे जब नाथ! अकेलापन क्या - तुमको खले नहीं।

पड़ जाओगे तुम्हें ही जब मुझे न पाकर व्यथा भरे
क्या-गति हो तब नाथ ! तुम्हारी मुझको यह ही सोच भरे ।
इस प्रकार बिलपती सती वे हो विक्षिप्त-समान वहाँ—
रोकर लगी दौड़ने वन-में रहा न उनको ज्ञान वहाँ ।
विह्वल होकर गिर पड़ती थीं कभी कभी रह जाती थी,
छिप जाती थी कभी वेग से नाथ नाथ चिल्लाती थी ।
सिर के बाल बिलम्बित उनके मुख-विधु पर छितराये थे
राहु-ग्रस्त निष्प्रभ से शशि पर भी वे बादल छाये थे ।
लगी खोजने वे हतभाग्या अपना भाग वहाँ वन-में
भटक रही थी दावानल-सा भड़क-रहा भीतर मन में ।
निकल गई वे दूर विपिन-में देखा वह मृगराज खड़ा
कहने लगी-उसी से तब वे रे ! तू है बलवान बड़ा ।
आजा शीघ्र मुझे तू खाले हों दोनों के कार्य भले
तुझे क्षुधात्मक तृप्ति मिलेगी मुझे विपद से मुक्ति मिले ।
आ-निश्शंक ठिठकता है क्यों ! अब तुझको किसका भय है
रहे न अब वे गये धनुर्धर निश्चित अब तेरी जय है ।
सम्भव तुझसे मुझे छुड़ाने हो आवें वे प्रगट यहाँ
देख रहे हों छिपे हुए वे वीर, विपिन-में निकट यहाँ ।
चला गया तू उधर अरे-क्यों-है तू अत्यकठोर बड़ा
होता सदय भला क्यों-तुझपर तू बिल्कुल निर्दयी बड़ा ।
रानी हूँ मैं निषधराज की यदि तू मुझे मार-खावे
तो फिर उनके कोपानल से तू न सुरक्षित रह पावे ।
धन्य नाथ का तेज सिंह यह अनुपस्थिति में भी डरता
हैं न यदपि वे तदपि उन्हीं का भय मेरी रक्षा करता ।
ठहरा तू पशुराज निरा आकर अपने इस पशु-मन में—
मुझे आज भी उनकी रानी पागल ! समझ गया मन में ।
हा स्वामिन् ! हा नाथ ! प्राणपति कहती हुई वहीं आगे—
घोर विपिन-में अब आ-पहुँची, अपनी सब सुध बुध त्यागे ।

किन्तु अकेला दुःख न आता जब जन के दुर्दिन आते,
विपदाओं-के उच्च हिमालय-से, हतभाग्य घिरे पाते।
एक महा अजगर की साँसों-से वह सहसा खिंची चली
उड़ी चली मानों, क्योंकि से क्षुप-छिन्ना असहाय कली।
'सर्प! सिंह-से सदय रहा तू धन्य विपद मेरी हरले
दुःख भरे इस जीवन-को हर, निज उदरस्थ मुझे करले।
यों-कह मूर्च्छित हुई, काल तब उनको खलने को ही था
क्षुधातप्त अजगर अग्रिम-क्षण उन्हें निगलने को ही था।
जिनका काम न आया, उनको मार सका पर कौन! कहाँ
सहसा अप्रत्याशित घटना हुई एक तब मौन वहाँ।
आकर तीर विषैला सत्वर बीच सर्प-के निकल गया
चला निगलने हाय! अभागा काल उसे-ही निगल गया।
हुई कृपा यह एक व्याध की फिर वह अभय निकट आया
कर उपचार महारानी का, उन्हें होश-में झट लाया।
पर, वह व्याध व्याधि-को हर कर महाव्याधि सा हुआ प्रगट
कर सङ्कट से मुक्त उन्हें वह बना स-मूल विकट सङ्कट।
देख अनिन्द्य रूप रानी का कामासक्त हुआ सहसा।
हुई आत्म-विस्मृति सी उसको वह अनुरक्त हुआ सहसा।
'मृगशावकनयने! बोलो तुम कौन! यहाँ कैसे आई,
भाग्यवान मैं विश्व रूप की राशि तुम्हें सहसा पाई।
कैसे तुम आई हो वन में या-असहाय-सी डोल रहीं,
सुर-दुर्लभ इस दिव्य-देह को कष्टों-में क्यों-झोंक रहीं।
देवि! विपिन की देवी हो तुम या तप-क्षीण अप्सरा हो
नहीं मानुषी भटक गई तुम दिव की अ मरा अमरा-हो।
यह सुनकर उससे दमयन्ती ने अपना सब वृत्त कहा,
पर, वह तो कामान्ध हुआ था नहीं स्व-वश में चित्त रहा।
"हे सुन्दरी! म अब तुम चिन्ता करो न मन-में अब माना,
अनाथिता अब हो न सुमुखि! तुम सनाथिनी निज को जानो।

ये मथनगे पीन पयोधर, अंग सुकोमल विधु-मुख यह
भौंहें कुटिल कमल-सी आँखें, बेंगी मुझको सुख रह रह।
समझो मुझको क्रीतदास तुम भरूँ तुम्हारा मैं पानी,
अपनी मधु चितवन से मुझको तनिक देख भर दो रानी।
'सँभल अभागे ! मौन रहो दुर्वचन न मुझसे बोलो-तुम
पामर ! अपने लिए स्वयं-ही नरक-द्वार मत खोलो-तुम।
मुझे बचाने क्या-तुम आये काल तुम्हारा ले आया
देखो सजग बुद्धि-से तुम पर मँडराई उसकी छाया।
मुझे न भय है आज मृत्यु-से जीवन से है स्नेह नहीं
लुटा छुटा सर्वस्व विपद ग्रस्ता हूँ कुछ सन्देह नहीं।
कवल-काल का बन सकती हूँ हँसती हँसती-यही अभी
किन्तु, मृत्यु से पहले मेरा शील-हरण हो नहीं कभी।
मूर्छित थी मैं मरी-तुल्य ही छुआ भले तूने यह तन
किन्तु सजग हूँ कुछ दुस्साहस भूल न करना अब दुर्जन !
इस निष्कलुष चरित्र-हेतु मैं मोद मान दुख सहूँ सभी
इसे भ्रष्ट कर, तू तो क्या-मैं रहूँ स्वर्ग-में भी न कभी।
था कामान्ध तनिक भी उसको, रानी का न कहा-भाया
क्रुद्ध सर्पिणी के छूने को उसने निज कर फैलाया।
था यह यम को बुला निमन्त्रण झट विद्युत-सी दमक उठी,
उठी भूमि-से खड्ग सती-के कर-में सहसा चमक उठी।
प्राणक-द्वारा अन्तिम उसको महासती ने बोध दिया,
था कुछ क्षण-पहले बाधक से यम ने यह प्रतिशोध लिया।
अनल-शिखा सी हुई प्रज्वलित धू धू करके व्याध जला,
सती-बैर के महापाप का शीघ्र महाफल उसे मिला।
रक्तप्लुत थे खड्ग हाथ में, सती बढ़ीं-आगे वन-में,
तड़प व्याध की देख न पाईं व्याकुल-सी होकर मन-में।
ज्वाला मुख से बरस रही इस काल सुम्भ-सी रानी थीं,
महिषासुर-वध के हित प्रकटित मानो कुपित भवानी थीं।

अब वे एक महावन में थीं जहाँ अँधेरा-सा छाया
नाद भिल्लिकाओं का होता भय न उन्हें पर छू पाया।
इधर उधर वे देख भालकर फिर आगे बढ़ जाती थीं
हा-निषधाधिप ! हा प्राणेश्वर ! रो रोकर चिल्लाती थीं।
नाना विहग वहाँ रव करते व्याघ्र गवाविक घूम रहे,
ऋक्ष महिष सिंहादि अभय हो स्वेच्छा से थे झूम रहे।
म्लेच्छ निशाचर दस्यु आदि भी छिपकर रहते थे उस ठौर,
ऊँचे-ऊँचे वृक्ष खड़े थे करते स्पर्श गगन का छोर।
धाम वेणु-वट पीपल तेंदू, इंगुद किंशुक और अरिष्ट,
मधूक स्यन्दन शाल्मल जामुन लोध खैर के तरु बलिष्ठ।
आम्रादिक फल फूल रहे थे उन पर खिली लता छाई,
खोज वहाँ-पर अपने प्रिय को महासती आगे आई।
देखीं नदियाँ गुहा भयप्रद, और पर्वतों-की माला,
पल्वल भील तड़ाग आदि पर प्राणेश्वर देखा भाला।
देखे उसने विहग भयानक, राक्षस उरग पिशाच निरे,
भैंसे और वराहों के थे झुण्ड वहाँ सर्वत्र घिरे।
अपने दुख में भूल रहीं सब भय न किसी से पाती थीं,
आर्य्यपुत्र हे निषधराज, कह कहकर वे डकराती थीं।
ढूँढ लिये सारे में प्रियतम पर, कुछ खोज नहीं पाया
आँखें सूज गईं, पैरों-में उनके रक्त उतर आया।
दर्शन हों जीवित रहकर ही इसीलिए कुछ खा-लेतीं
खाना क्या-बस रस शुष्क, फल फूल जहाँ जो पा लेतीं।
थक कर एक शिला पर बैठीं, लगीं विलाप वहाँ करने
वे देवी अपने क्रन्दन-से लगीं महावन-को भरने।
निर्जन वन में छोड़ मुझे तुम नाथ ! कहाँ-क्यों चले गये,
निरपराध सोती को छोड़ा क्या-दैवों-से छले गये।
हे पुरुषोत्तम ! नृपति श्रेष्ठ ! तुमने हैं यज्ञ अनेक किये
सत्यव्रत हो धर्म-भीरु फिर क्यों-ऐसे अविवेक ~

हो प्रणवीर किन्तु फिर भी अपना प्रण आज भुलाये हो
किसी अप्सरा ने है स्वामिन् ! या छल से बहकाये हो।
है पर यह विश्वास न मुझको गूँज रही प्रिय ! वह वाणी
मुझसे अधिक सुन्दरी तुमने कौन ! कहाँ जग में मानी।
देखो फिर शार्दूल इधर यह चला बुभुक्षित आता है
अपनी पैनी हिम-सी उज्ज्वल यम-द्रष्टा दिखलाता है।
हो मेरे सर्वस्व प्राण तुम क्यों न मुझे उत्तर देते
रो रो तुम्हें पुकार रही हूँ क्यों-न सदय हो सुध लेते।
हे पुरुषोत्तम ! हे अरिकर्षण ! देखो मेरी तनिक दशा
यूथ भ्रष्ट हरिणी-सी हूँ मैं दीना हीना दुखी कृशा।
बारम्बार बुलाती हूँ मैं नहीं बोलते हो स्वामी !
इस पर्वत-पर दृष्टि न आते हुए किधर किस पथ-गामी।
हे सिंहो ! हे व्याघ्रो ! बढ़कर तुम स-प्रेम चले आओ
मेरे प्रियतम कहाँ मिलेंगे मुझे दया कर बतलाओ।
अब नित कौन, विपद ग्रस्ता को मुझे सुनावे मधु-वाणी
कौन कहेगा मुझे प्रेयसी प्राणाधिक-प्रिय-कल्याणी।
ओ शार्दूल ! खड़ा है क्यों-तू मैं दमयन्ती भीमसुता—
निषधराज को खोज रही हूँ, दे कुछ उनका मुझे पता।
अरी ! सरित तू ही बतलादे बड़ी दूर से आती है,
अपने प्रिय को पाने के हित महराती-सी जाती है।
निषधराज क्या-तूने देखे, पिया कहीं उनको पानी
करदे दया बहन ! तू मुझ-पर, मैं उनकी ही हूँ रानी।
राजहंस ! तुम आज कहाँ हो तुम पर बलि बलि जाऊँगी,
मेरे प्रिय का पता बता दो मुक्ता तुम्हें खिलाऊँगी।
तुमने मुझे कहा-था देवों से भी अधिक गुणाकर वे,
क्यों-न मुझे अब धीरज देते महाविपिन-में आकर वे।
ओ गिरिराज ! बड़े तुम ऊँचे दृष्टि दूर तक जाती है,
जब यश तुमको दीख रहा सब, तुम्हें दया-भी आती है।

हे शरण्य कल्याण देव ! मेरा प्रणाम स्वीकार करो
भीमनन्दिनी दमयन्ती मैं मेरा तुम ही कष्ट हरो।
पराक्रमी हैं धीर वीर वे, वीरसेनि मेरे स्वामी
है आजानुविशाल बाहु वे, सद्गुण-युक्त सुपथ-गामी।
मुझको अपनी सुता समझकर धीरज दो स-करुण गिरिराज !
मेरे पति का पता बतादो उनको खोज रही मैं आज।
नहीं बोलता पर यह गिरि तो, हे अमल ! तुम्हीं आओ
बहुत विलाप कर चुकी अब मैं, कृपया स-करुण हो जाओ।
दर्शन देकर हे प्राणेश्वर ! मुझे अङ्क भर भेंटो तुम
अपनी लम्बी उष्ण भुजों में आकर अभी लपेटो तुम।
अपनी उस गम्भीर स्निग्ध-श्रुतिहर, घन-जसी मधुवाणी—
से प्राणेश्वर मुझे पुकारो, भीमसुते ! हे कल्याणी !
डरो न तुम, मैं निकट खड़ा हूँ, मुझको यही सान्त्वना दो
जो कुछ मुझसे कहा हंस ने आप ! सभी पूरा कर दो।
लेट गई वे वहीं शिला-पर थकित भीत यों निराश्रिता—
(चलीं देखते दृश्य वहीं यों - भीमनन्दिनी पतिव्रता।
तीन दिनों-तक चलते चलते उन्हें एक आश्रम पाया,
ये भृगु अत्रि वशिष्ठ आदि ऋषि व्यापे जिन्हें न जग माया।
वल्कल वस्त्र और मृग छालाधारी, ऋषि-मुनि लोग वहाँ
वे स्थित प्रज्ञ, निराहारी कुछ, पत्र-वायु ही भोग जहाँ।
देखे भैमी ने आश्रम में अभय हरिण क्रीड़ा करते,
दर्शन-पूत महामुनियों के महा व्याधि जन की हरते।
उनके पहुँच निकट रानी ने, सविनय उन्हें प्रणाम किया
हो प्रसन्न मुनियों ने उसको स्वस्तिवाद स प्रेम दिया।
बैठ-गई रानी आज्ञा से अति विनम्र यों थी वाणी,
भीमनन्दिनी दमयन्ती मैं निषध-देश-नृप की रानी।
कहो देव ! निर्विघ्न आपका जप तप तो सब
माया तो कुछ प्राप्त न तुमको, धर्म ठीक

हाँ भद्रे ! स-कुशल हैं हम सब अब तुम अपना वृत्त कहो,
हो यदि सेवा योग्य हमारे शीघ्र कहो, मत व्यथा सहो !
श्रेष्ठ-रूप हा परम-कान्ति को देख सभी हम विस्मित थे
वन-देवी गिरिकन्या तुमको समझ ग्रभी हम विस्मित थे।
'देव ! पूज्य-पति हैं मेरे धर्मज्ञ गुणी ज्ञानी-मानी
फिरूँ खोजती उन्हें विकल मैं यह सब विपिन भरा छानी।
गिरि-नद नदी सरोवर देखे झील ग्रौर निर्जन वन भी—
भटक रही हूँ ग्रहोरात्र मैं पा न सकी पर उन्हें ग्रभी।
यह देखो मेरे पैरों-में पड़कर फूट गये छाले
यहीं कदाचित ग्रा न गये हों श्यामल-मेघ कान्ति वाले।
यही सोचकर पुण्य-तपोवन-में मैं ग्राई, पूछ-रही
हो सर्वज्ञ तात ! तुम उनका मुझे बताग्रो भेद सही।
उनके बिना व्यर्थ जीवन है विरह-में न जी पाऊँगी
पा न सकी यदि प्राणेश्वर-को तो जीवित जल जाऊँगी।'
'धीरज धरो शान्त हो वत्से ! शोक न यों-मानो मन-में
पा जाग्रोगी निषधराज को फिर तुम थोड़े ही दिन-में।
होगी विपदा दूर तुम्हारी फिर से बनो महारानी
ग्रपने पति-के संग पूर्व-सा सुख भोगोगी कल्याणी।
ग्रपनी दिव्य दृष्टि के बल से हाल सभी हमने जाना
हुग्रा भीमजे ! श्रेयस्कर ही यहाँ तुम्हारा ग्रब ग्राना।)
सहसा ग्राँखें खुलीं सती की जगकर स्वप्न याद ग्राया
तनिक देर तो रहीं विमोहित पर फिर शोक वही छाया।
चलीं विवर्णी वे ग्रागे-को करतीं हुईं करुण-क्रन्दन
हूक महादेवी की सुनकर, उद्वेलित था सारा वन।
चलते चलते महासती ने एक ग्रशोक वृक्ष देखा
मधुर वचन बोलीं उससे वे वैदर्भी की क्ष्य रेखा।
फूले हुए महावट हो तुम, नाना खग-रव करते हैं,
शोभित जन तेरी छाया में बैठ शोक निज हरते हैं।

आई मैं तरु-भिन्न लता-सी विटप ! यहाँ शोकित होकर
शान्ति मुझे दो वृक्षराज ! तुम मेरा शोक सभी खोकर।
बतलाओ तो वे पृथुलोचन देखे तुमने यहाँ कहीं,
अरे अभागे ! मूक खड़ा क्यों-देता उत्तर मुझे नहीं।
निषध देश के स्वामी हैं व पहने अर्ध-वसन तन-पर,
अब तक ढूँढूँगा, सदय भला तू क्यों-होगा शोकित मन-पर।
यह वह सती वहीं मार्गों को दुर्गम स्थानों-पर होतीं,
हा निषधेश ! नाथ हा ! कहतीं जातीं थीं रोतीं रोतीं।
बहु नद नदी झील सर देखे, गिरि की अगम कन्दरा भी
भूल प्यास तो दूर न उनको छू-पाती थी तन्द्रा भी।
किन्तु न मिले उन्हें प्राणेश्वर गदगुप्ता-सी और वहीं
देख एक ऊँचा-सा टीला उस पर भीमात्मजा चढ़ीं।
सम्मुख महानदी बहती थी लम्बा चौड़ा पाट किये
मच्छ कच्छप ग्राह आदि मुदित जीवों को अपनी गोद लिये।
उसके तट पर सार्थवाह का शिविर लगा लम्बा चौड़ा,
चिर दिन पीछे देख जनों-को धैर्य मिला उनको थोड़ा।
विक्षिप्ता-सी सती थकित वे सत्वर उनके निकट गईं
मोद-मग्न जन देख वहाँ-पर मिली ज्योति-सी उन्हें नई।
हाथी खड़े हींसते घोड़े, पंक्ति-बद्ध सज्जित रथ थे
उज्ज्वल तने वितान चमकते जिनके बीच छुटे पथ थे।
उसमें-आन धूल-से पूरित सूखी आँखें, अर्ध-वसन—
बुरी दशा थी यशस्विनी की घेरे था प्रिय-शोक-व्यसन।
दीना हीना और विवर्णा मलिन-मूर्ति को पा आगे—
समझ उन्हें उन्मत्त रोगिणी, कुछ जन भीत-हुए भागे।
कुछ ने हँसी-उड़ाई उनकी, निन्दास्तुति भी हुई वहाँ,
सदय पूछ ही बैठे कुछ जन शुभे ! कहो, तुम कौन यहाँ।
मलिन वेश में देवी हो तुम, सती हो, या कोई भी
रक्षा करो हमारी माई ! कुछ कहना तो शीघ्र

तुम्हें देख पीड़ा होती है, मन में भय भी जगता है
कुछ अनिष्ट होने को हो है बरबस ऐसा लगता है।
सार्थवाह ये शुचि स्वामी हैं चलो, तुम्हें ले चलें वहाँ
जो कुछ भी हम-कर सकते हैं करें तुम्हारी सेवा-हाँ।
शुचि स्वामी के निकट पहुँच कर नलप्रिया की बड़ी व्यथा
रो-रोकर उस पतिव्रता ने कह दी अपनी सभी कथा।
'रीछ महिष हाथी सिंहों के हमने देखे झुण्ड बड़े,
नल नामक निषधेश न भद्र ! कहीं हमारी दृष्टि पड़े।
पुरुष न हमको मिला कहीं भी जब से हम आये वन-में
होगा प्रिय-कल्याण तुम्हारा देवी व्यथित न हो मन-में,
चारु चेदि जनपद को प्रात काल घूमे ! हम को जाना
तुम भी साथ हमारे चलना व्यर्थ यहाँ है दुख पाना।
भद्र ! सार्थवाह हूँ मैं ही खा पीकर तुम सो जाओ
रक्षक हों मणिभद्र हमारे देवि ! न अब कुछ भय पाओ।
अगले दिन उस सार्थवाह के साथ चलीं नल की रानी
वन-पथ-गिरि नद सभी देखती मिले न पर उनको मानी।

कुछ दिन पीछे एक विपिन में सार्थवाह जाकर ठहरा
कमलाच्छादित जल-जीवों-से युक्त सरोवर था गहरा।
हारे थके मनुज खा पीकर थे निद्रा-में लीन हुए,
कौन, जानता था वे जग-से सदा सदा को हीन हुए।
अर्ध-निशा बीते पर वन्य-गजों-का यूथ वहाँ आया,
सम्मुख उसने पले-गजों को बैठे और खड़े पाया।
घुस गये पानी पीना वे क्रोधित उन पर टूट पड़े,
लगे पदों-से सबको दलने मानो भूधर छूट पड़े।
ग्राम्य गजों से भिड़े युद्ध मानो छिड़ गया पहाड़ों-में
उठ उठकर जन लगे भागने, छिपे झाड़ झंखाड़ों-में।

भीषण-तुमुल-क्रन्दन रव छाया हाहाकार मचा क्षण-में,
व्याप्त दिशाओं में होकर वह क्रन्दन फैल गया वन में।
मृत-सम हाथी पड़े मार्ग-में जैसे समाधि-विलीन हुए,
मरे कुचल कर मनुज बहुत से, कुछ कर-पद से हीन हुए।
होती थीं चिंघाड़ गजों की, धुआँधुन्ध छिड़ा रण-सा,
प्राण बचाकर भागे कुछ जन, छूट पड़ा बिखरा धन था।
हुए वहाँ अधिकांश निहत जन, कुछ थोड़े ही शेष रहे,
दौड़ो भागो हाय बचाओ आदि शब्द थे वहाँ बहे।
वैदर्भी ने प्रलय-तुल्य यों दृश्य न था पहले देखा,
भाग उठीं भीता त्रस्ता हो शरच्चन्द्र की सी रेखा।
शेष बचे लोगों को तब उन हतभाग्या पर रोष रहा,
इस सारी ही दुर्घटना का उस देवी ने दोष सहा।
हृदय-थामकर साथ रहीं वे स्पन्द हुआ जिसका धीमा,
हाय ! विपत्ति विश्व-में तेरी रखी न विधि ने क्यों-सीमा।
भावी के वे खेल बचे क्या जो न गये मुझ से खेले
रहे पग पर कष्ट कहाँ वे, हाय न जो मैंने झेले।
झगड़ा प्रथम हुआ देवों से राजपाट फिर गया सभी
भूखी प्यासी भटकी वन-में किन्तु विपद थी शेष अभी।
होकर खिन्न अभागी का प्राणेश्वर ने भी छोड़ दिया
सुर-साक्षी थे ऐसा प्रण भी, सत्यव्रत ने तोड़ दिया।
अजगर मिला न वह खा पाया महापाप वह व्याध मिला,
और आग में निहत हुए सब बैठी मैं रह गई शिला।
नहीं निकलते प्राण अभागे, कैसे करूँ, कहाँ जाऊँ,
बहुत बड़ा संसार खोजकर प्रिय को मैं कैसे पाऊँ।
अरे स्वप्नविश्वास ! मुझे तो तू ही आज जिलाता है,
घोर तिमिर में आज तुझी से कुछ प्रकाश पा जाता है।
मन वाणी या देह कर्म से दुख न किसी को पहुँचाया,
निश्चय मैंने पूर्व जन्म के पापों का यह फल

उन्हीं सुरों की माया है सब किन्तु न मार्ग तजूँगी मैं,
प्राणेश्वर को पाकर, अपना भर सौभाग्य सजूँगी मैं।
शेष बचे केवल विप्र कुछ, जिन्हें न था मग ने निगला
चन्द्र-समान उन्हीं के पीछे, चली मोहिनी चन्द्रकला।
चेदी जनपद-में जा पहुँचे, नृप सुबाहु थे जहाँ सुजन,
विप्रों से भी बिछुड़ी देवी था शोकार्त सती-का मन।
आधा तन वस्त्रावृत उनका रूखे सूखे बाल पड़े
जटा-जाल सा बन कर बिखरे इधर उधर स्वच्छन्द बड़े।
दीन हीन कृश शुष्क लता-सी चली नगर में वे जातीं
गति भी विक्षिप्ता-सी उनकी बोध न थीं कुछ भी पातीं।
प्राणेश्वर की मूर्ति हृदय-में नाम उन्हीं का थी जपतीं
जलता फिरता ताप भरा तप थीं वे तपस्विनी तपतीं।
कर-तल रव कर पीछे बालक 'पगली पगली' चिल्लाते
देवी-पर रज-कंकड़ चटपट पुष्प तुल्य वे बरसाते।
स्मितप्रभ-सी महायोगिनी रोष न थीं पर कुछ लातीं
मुड़कर भी न देखतीं पीछे सब कुछ सहन किये-जातीं।
विगत मान प्रिय-ध्यान-मग्न जब खड़ी जहाँ वे कल्याणी
राजभवन-से देख रही थीं बैठी उन्हें महारानी।
देवी-की उस दिव्य प्रभा से उनका द्रवित हुआ हिया
उनको भीतर ले आने का दासी को आदेश दिया।
देवी के आने पर उनसे वीणा-सी बोली रानी,
मलिन वेष विक्षिप्त-दशा-में कौन देवि! तुम कल्याणी!
हाय, विपद यह तुम पर कैसी तन ढकने को वस्त्र नहीं,
स्व-जन तुम्हारे नहीं रहे क्या प्राणेश्वर भी गये कहीं।
नहीं खोजने से भी पाती तुम सी परम-कान्ति जग - में,
देवी हो तुम वेष बदलकर निश्चय, घूम रहीं मग-में।
भूल रही हो किन्तु शुभे! यह भव्य रूप! जो छिपे नहीं
तृण पत्रों-में दबे पुष्प-का सौरभ क्या-छिप सका कहीं।

महासती ने रोकर उनसे कही सभी निज कष्ट कथा
समागता का वृत्त जानकर रानी को बढ़ घनी व्यथा।
भीमसुता मैं दमयन्ती हूँ तपस्विनी जब यों बोली
हर्षोन्मत्ता रानी ने उठ भरली सब उनकी झोली।
"हाय अभागी दुखिनी बिटिया! तुझ पर कैसी विपत्ति पड़ी
लिपटी रहो हृदय से मेरे मुझे शान्ति मिल रही बड़ी।
मेरी भगिनी की तू पुत्री नृप दशार्ण की मैं बेटी
नैषध रानी होकर भी तू रही भाग्य-की यों-हेटी।
तेरी खोज मची है बेटी! यहाँ वहाँ सब जगह भरी!
झञ्झावातों-से टकराकर तट-पर आ-ही गई तरी।
सुख से रहो यहाँ तुम बत्से! भीति न अब कुछ भी मानो
अपनी माँ तुम मुझको समझो इसे पिता का घर जानो।
समाचार तेरे पाने का कुण्डिनपुर पहुँचाती हूँ
हृष न भाव समाता तन में दबी भार से जाती हूँ।
तू आई वे भी आवेंगे मुझे न कुछ सन्देह रहा
धीरज धर ईश्वर का जप कर, अब न दृगों-से अश्रु बहा।
तप्त धरा के भीषण तप को मेघ बरस धोता ही है
घन्‍म नियम क्षपा-के पीछे, सूर्य उदित होता ही है।
मज्जन करलो वस्त्राभूषण अभी यथेष्ट मँगालो तुम
भूखी हो बेटी कब कब की भोजन सत्वर पालो तुम।
मेरी सुता सुनन्दा है, अब कुछ दिन उसके साथ रहो
फिर कुण्डिनपुर पहुँचा-दूंगी बत्से! अधिक अधीर न हो।'
बहुत समय में सुनी सती ने मधु-सी स्नेह सनी वाणी
सिसक सिसक कर रोती थीं वे टप टप बरस-रहा पानी।
गोदी में मुख रख रानी को भिगो-दिया आँचल सारा
मिली हुई सी शोभित थीं वे दो सरिताओं की धारा।
सता सदृश थरथर कम्पित थीं देवी का विह्वल था मन
चिर दिन पीछे प्राप्त हुए थे आज उन्हें अपने प्रिय-जन।

गला भरा था किन्तु उन्होंने वहाँ सुधा-सी घोली ही,
धीरज धर कर वे पिक जैसे मधुर वचन माँ-बोली ही।
अम्ब ! तुम्हारी अनुकम्पा है दुख से तनिक पार पाया
आज मिली यह मुझे शान्ति-सी जब से विपद ज्वार आया।
दुर्दिन बीते से लगते हैं और सुदिन आवेंगे ही
मेरा भी विश्वास यही है वे मुझको पावेंगे ही।
ऐसे ही रहने दो मुझको जैसी रूखी सूखी हूँ
सच समझो माँ ! वस्त्राभूषण की मैं आज न भूखी हूँ।
काषायिक ही धोती दे दो जिससे यह तन ढक जावे
कहीं पड़े होंगे वे भूखे यह पतिता यों-छक जावे।
हिचकी सी बँध गई तभी वे सती सँभल कर फिर बोलीं—
दीन-रही थी यूथ प्राप्त-सी हो मानो हरिणी भोली।
जीवित तो रहना ही होगा करने है उनके दर्शन
माँ ! पर व्रत मैं तोड़ न सकती राजभवन भी होगा वन।
तुमसे मिलकर आज अभागा दाह शान्त-सा है उर का
यदि हो विदित बताओ तो तुम वृत्त मुझे कुण्डिनपुर का।
दमन दान्त दम भैया मेरे, और पिता सकुशल तो हैं
मेरी वे पुण्या माँ-कहदो स्वस्था और सबल तो हैं।
वे दो मधु से मान्य हीन शिशु कहो अम्ब ! जीते भी हैं,
माता के घर वे अनाथ से कुछ खाते पीते भी हैं।
हाँ-बेटी सब कुशल वहाँ है, वृत्त मुझे विज्ञात सभी,
क्षेम भरे भैया, शिशु तेरे हैं अदीन माँ-तात अभी।
चिन्ता एक सभी को तेरी बस दिन रात जलाती है,
तेरी स्मृति उन सब के तन में सिकस चोर-सी जाती है।
पर अब तेरा आना सुनकर उनसे, उनको मुक्ति मिले
तेरे पति का पाने की भी आशा है कुछ युक्ति मिले।
सुनकर यह सब वृत्त सती ने मानो लुप्त कोष पाया
मन्थन किया हुआ निर्मम मन मन ने तनिक तोष पाया।

कापायिक ही धोती पहनी थीं कृशकाया योगिन थे
खिसका सका कब भोजन मुख में, बनी गृहस्थ अभोगिन थे
समाचार उनके आने का सुनकर सभी मुदित-मन थे
पर, वे तो खोई सी रहतीं दूर अभी जीवन धन थे।
कुण्डिनपुर में वृत्त गया जो वहाँ अपार हर्ष छाया
सब ने जप तप व्रत का मानो मूर्त-मनोरथ-फल पाया।

पुर ज्योति हमारी कब आवें,
हम सब विधु-से दर्शन पावें।
उन यशस्विनी के पथ को तब
उत्सुक हो देख रहे थे सब।

द्वादश सर्ग

व्याकुल निषधराज जाते थे आगे-से बीहड़ वन-में
घृणा स्वयं से रानी-दुख से वे अति तापित थे मन-में ।
साँझ हुई, फिर प्रात आया किन्तु न भूप कहीं ठहरे,
चिन्तोदधि में उतर रहे थे शोक-ग्रस्त होकर गहरे ।
नृप ने आगे वन-में देखा भड़क रहा था दावानल
जला रहा वह एक छोर से जो भी मिलता सचल अचल ।
कड़ कड़कर मानो दाँतों-से चबा सभी को जाता था
लप लप कर वह लपट ब्याज से निज जिह्वा दिखलाता था ।
भड़ भड़ कर धस रहे वृक्ष सब शिला खंड भी पिघल रहे
चर भिन्न-रूप अनेक वहाँ ज्यों, यम सबको ही निगल रहे ।
तड़प रहे सब जीव मनस-में निकल न कोई पाता था
जिधर भागता उधर स्वयं को घिरा अग्नि-से पाता था ।
वायु धूम को उठा धरा-से नभ-में दूर धकेल रहा
अरुण विपिन रञ्जित समीर से मानो होली खेल रहा ।
नाना-जन्तु तड़प रव करते भस्म जाते कुछ ही क्षण-में,
आक्रन्दन आक्रोश व्याप्त था जिससे सारे ही वन-में ।
क्षण भर रुककर वहाँ नृपति ने वह सब महानाश देखा
महामृत्यु के महावक्त्र का था वह महाग्रास देखा ।
क्रीड़ा करते दावानल को देख रहे जब भूप खड़े,
तभी निकट ही 'हाय बचाओ' उनके कानों शब्द पड़े ।
आर्त-पुकार गई कानों-तक उधर आर्त-पर दृष्टि पड़ी
थे नृप आबद्ध हुए से थी पुकार ज्यों रज्जु बड़ी ।
यद्यपि वहाँ पहुँचने में तब प्राणों को था भय भारी
किन्तु उपेक्षा पीड़ित रव की कर न सके वे-व्रत-धारी ।

पीड़ित रक्षा-हेतु, वीर नृप ज्वलित अग्नि-में ही पैठे
वैसे बँधे-हुए से तब कर्कोटक नागराज बैठे।
कठिन उन्हें हिलना डुलना था जले अग्नि में जाते थे
'हाय बचाओ' 'हाय बचाओ विवश पड़े चिल्लाते थे।
ओह, झुलसकर दावानल से सभा थी अब लुप्त हुई
चिल्लाने तक की भी उनकी शक्ति सभी ज्यों-सुप्त हुई।
निर्भय नृप ने कुछ जल-कर भी, उन्हें अग्नि-से उठा लिया
दूर सुरक्षित जगह तभी ले जाकर जीवन दान किया।
नृप से तब कर्कोटक बोले-हो प्रबुद्ध हर्षित मन-में
राजन्! मेरे प्राण बचाये तुमने आज ज्वलित-वन-में।
नागराज मैं कर्कोटक हूँ नारद से अभिशप्त हुआ
बहुत दिनों-से पड़ा सजड़-सा, विपिन दुखों-से तप्त हुआ।
कहा-उन्होंने, जब नल तुमको साधु-वदन हो स्पर्श करें
अग्नि-तप्त तब अङ्ग तुम्हारे अपनी जड़ता सभी हरें।
प्राप्त महर्षि अभा वह उनका सत्य न क्यों होता कहना
दुर्दिन दास के आ-पहुँचे अब बीत गया दुख का सहना।
निषधराज ने स्वयं उठाया, धन्य! आज मैं हुआ सुकृत
धन्य वीर निषधेश! आपका सेवक है यह अति उपकृत।
निषधराज हैं आप वीरवर निश्चय मैंने मान लिया,
अपनी शाप-मुक्ति से ही मैंने तुमको पहचान लिया।
आज्ञा दो अब राजन्! मुझको मैं कुछ प्रत्युपकार करूँ
जीवनदाता की सेवा कर कुछ तो हलका भार करूँ।
कर न सका यदि मैं कुछ सेवा व्यर्थ अधम तब यह जीवन
शीघ्र कहो क्यों-दुखी हुए हो व्याकुल-सा लगता तन-मन।
नागराज-से, व्यथित नृपति ने अपना वृत्त कहा-सारा,
कहते कहते निषधराज के बही दृगों-से जल-धारा।
मित्र! तुम्हारी बातें सुनकर मैंने तनिक धैर्य पाया
वन में सोती पत्नी को मैं, एकाकिनी छोड़ आया।

पतिव्रता वे पूर्ण-सती हैं सुन्दर चन्द्र समान खिली
देवाप्राप्या कमलदृगी वे पापाधम को मुझे मिली।
रखा हाय! कहाँ कर पाया मैं अपने ऐसे धन की
व्यथित हुआ हूँ सर्प-दश-सा व्याकुलता यह ही मन की।
निज व्रत के अनुसार मुझे अब दास किसी का होना है
उसी-वृत्ति का ही तप करके कलुष स्व-कुल से धोना है।
पर यह रूप बना है बाधक कैसे कहाँ छिपूं जाऊँ,
युक्ति बतावो मुझे प्रभु! कष्ट व्रत-से यथा पार पाऊँ।
सच है, चितवन चिन्ता देती ममता को फलती माया
छोड़ चुका दोनों को मैं अब अपनी ही लसती काया।
महापाप कर चुका अधम मैं मुक्ति न उससे पाऊँगा
विषम कु-फल सहने ही होंगे कैसे मुँह दिखलाऊँगा।
हाय! बिलखती सती विपिन में अब क्रन्दन करती होंगी
भयाकुला वे विपिन-दुखों को देख देख मरती होंगी।
घोर पाप भी यद्यपि विवश मैंने उनके ही हेतु किया
सदा सदा के लिए शीश पर अपयश का यह भार लिया।
फिर भी मुझे कृतघ्न समझतीं होंगी वे असहाय वहाँ,
भटक रहीं होंगी वन-वन-में वे अबला निरुपाय वहाँ।
स-कुशल वे कुण्डिनपुर पहुँचें नागराज! ऐसा कर दो
इसी ताप से तप्त हुआ हूँ व्यथा यही मेरी हर दो।
ऐसी युक्ति बता दो जिससे मुझे न कोई जान सके
करूँ पूर्ण व्रत, गुप्त-रहूँ मैं जन न मुझे पहचान सके।
दोनों कार्य न यदि कर सकते तो पहला ही करा सके!
परम पुनीता उन भीता की व्यथा भीति सब हरो सके!
अपने पर जो भी बीतेगी मित्र! सभी मैं झेलूँगा
उन देवी-के दुख का भी मैं भाग स्वयं ही लेलूँगा।
तपस्विनी के उस तप बल से ही ये इतने दिन बीते
इतने ताप विगत हैं तो, दुःखार्णव रहें न बिन रीते।

धन्य मित्र ! तुम धन्य तुम्हारे हैं ये ऊँचे भाव बड़े
वीर वीर के सम्मुख जग-में रह सकते कब विघ्न खड़े ।
हैं क्या-ये दो कार्य भला जो तुमने मुझे बताये हैं,
समझो उन दोनों के फल नृप चरण चूमने आये हैं ।
वे देवी सकुशल अपने घर पहुँचेगी सन्देह नहीं
उनका रक्षक स्वयं तुम्हारा होगा पूत-स्नेह यही ।
और सामने देखो यह जो जड़ी दृष्टि-में आती है
पीत पुष्प की गोदी-में भर लहर लहर लहराती है ।
इसे पीसकर मिला सलिल-में फिर उसमें तुम स्नान करो
तीन दिनों-तक खाकर इसको प्रात फिर जल-पान करो ।
काया का परिवर्तन हो तब तुम्हें न कोई जान सके
अन्तरङ्ग भी मित्र तुम्हारा तुम्हें न फिर पहचान सके ।
जब भी इसका इसी भाँति तुम फिर से सेवन कर लोगे
तभी अनिन्द्य रूप यह अपना अनायास ही धर लोगे ।
इसके सेवन से हे राजन् ! कहीं न भय तुम पाओगे
होंगे दूर अमङ्गल सारे और विजय पा जाओगे ।
यह बूटी इस विपिन भाग-में या इस गिरि पर होती है
पतिव्रता की दृष्टि किन्तु, इसकी माया को धोती है ।
उससे सदा सजग रहना तुम, चले अयोध्या में जाना
'बाहुक' नाम पहुँचकर अपना राजा से तुम बतलाना ।
गुणी स्वयं तुम कार्य तुम्हें वे दे ही देंगे जाने पर,
दुख तुम्हारे अपगत होंगे पार अवधि का पाने पर ।
राजपाठ धन धान्य सुखा सुत पत्नि प्रिय, अपनी सारी
प्राप्त सभी ये तुमको होंगे खिली हुई सी फुलवारी ।
हाँ यदि बन्धु ! चाहते हो तो ऐसी युक्ति बताऊँ मैं
तुम्हें तुम्हारी अवनी से सकुशल शीघ्र मिलाऊँ मैं ।
'अहो बन्धु ! मन पूर्ण न होगा पाप न या जो पाऊँ मैं'
पाप शान्त हो प्रण-पालक भी तब न बने ! हा पाऊँ मैं ।

सुखिनी हों वे मित्र ! मुझे तो यह सब दुख सहना ही है
पूर्ण अवधि तक दास अयोध्या में बनकर रहना ही है।
अति उपकृत मैं हुआ सुजन प्रिय ! बड़े भाग्य से पाये हो
मेरे पुण्य मूर्त्त ही होकर नागराज ! तुम आये हो।
मित्र ! सान्त्वना पाई तुमसे जिससे चिन्ता भीति हरी,
मेरी रानी कुण्डिनपुर-में पहुँच सकेगी क्षेम-भरी।
तदनन्तर हो विदा परस्पर भूपति चले महावन-में
चिन्ता आशा भय विश्वास सभी थे साथ नृपति मन-में।
सेवन करते रहे मार्ग-में नृप उस बूँटी को लेकर
जाते थे अविराम चले वे जैसे तैसे ले देकर।
देखी नृप ने चलते चलते बूँटी-की अद्भुत माया
अब नरराज न लगते थे वे बदल चुकी थी सब काया।
दश दिन में उस विपिनार्णव-से अपनी नौका को लेकर—
पहुँच गये सरयू-तट 'बाहुक' नाम स्वयं को नृप देकर।
कर मज्जन जल पान नृपति ने मानो विपिन-कलुष धोया
अमरपुरी-सी पुरी देख थे मुग्ध, सकल पथ श्रम खोया।
विस्तृत सुन्दर सुखद स्वच्छ थी जन-परिपूर्ण महानगरी
विश्व-सिन्धु का पूर्ण-विभव मानो थी गोरस-भरी गगरी।
अवलोकन कर पुरी अयोध्या का बाहुक अति मुदित हुए,
मोद-भरी फिर राजसभा में वे विस्मय-से चकित हुए।
नृप ऋतुपर्ण राज आसन पर शोभित होते थे ऐसे
नभ-में नक्षत्रों से घिर शशि छिटकाता है छवि जैसे।
मलिन वेश वह कृष्ण रूप जब नृप ने निज सम्मुख देखा
छिपी हुई सी खिले गगन-में कृष्ण घटा की सी रेखा।
कहो भद्र ! क्या-नाम तुम्हारा आने का भी हेतु कहो !
किसी विलक्षण जनपद के तुम लगे निवासी मुझे अहो !
यदि मुझसे कुछ कार्य बने, संकोच छोड़कर बतलाओ
अपना ही जनपद यह समझो भय-संशय कुछ मत लाओ।

प्रणति-पूर्व बाहुक विनयी हो लगे नृपति से यों कहने—
हे सम्राट् ! चला आया मैं होकर दास यहाँ रहने।
दाक्षिणात्य जनपद से आया बाहुक नामक मैं जन हूँ
स्व-धाम-मुक्त मैं विपद ग्रस्त हूँ इससे ही क्लेशित-मन हूँ।
सचिव सखा सेनानी से जो कार्य दास तक के सारे—
कर सकता हूँ बड़ी दक्षता से मन-में धीरज धारे।
पाक-शास्त्र में मुझ-सा पण्डित नहीं खोजने से पावें
एक ग्रास-में सभी रसों-का हे नृप ! स्वादु तुम्हें भावे।
यद्यपि सच है आत्म प्रशंसा विज्ञ न करते भूल कहीं
किन्तु, अपरिचित जन के आगे कहना पड़ता हाल सही।
हय-विद्या में परम-विज्ञ मुझ-सा न मनुज नृप ! पा सकते
अश्व-परख में देव दनुज भी तुल्य न मेरे आ सकते।
उच्चैःश्रवा-समान हयों-से हयशाला भर सकता हूँ
वायु-तुल्य अश्वों की गति हे राजन् ! मैं कर सकता हूँ।
दशों भौरियों से विशुद्ध शतपदी कुलीन अष्ठ घोड़े—
गति-में गरुड़ समान किन्तु जो लगें देखने में थोड़े।
शतयोजन अविराम भूप ! जो जा सकते हैं बिना थके
सिन्धु देश में होते वे साधारण मनुज न पाल सकें।
कुछ दिन यहाँ निवास करूँ, फिर अपने घर चल दूँगा मैं,
बदले में हे राजन् ! कुछ भी धन न आप से लूँगा मैं।
जीवित रहने के हित एक समय ही भोजन करता हूँ
लाज-निवारण हेतु एक ही वसन देह पर धरता हूँ।
"हे बाहुक ! तुम-सा जन पाकर मैं स्वयमेव कृतार्थ हुआ
व्याज तुम्हारे से हे आगत ! प्राप्त मुझे परमार्थ हुआ।
किसी भाँति का कष्ट न होगा, करो निवास क्षम से तुम
हयशाला को करो समुन्नत हे प्रिय बन्धु ! प्रेम से तुम।
मेरे अन्तरङ्ग मित्रों-में गिने आज से जाओगे,
दश सहस्र स्वर्णिम मुद्रायें मासिक वेतन पाओगे।

सुखिनी हों वे मित्र ! मुझे तो यह सब दुख सहना ही है
पूर्ण अवधि तक दास अयोध्या में बनकर रहना ही है।
अति उपकृत मैं हुआ सुजन प्रिय ! बड़े भाग्य से पाये हो,
मेरे पुण्य मूर्त ही होकर नागराज ! तुम आये हो।
मित्र ! सान्त्वना पाई तुमसे जिसने चिन्ता-भीति हरी
मेरी रानी कुण्डिनपुर-में पहुँच सकेगी क्षेम भरी।
तदनन्तर हो विदा परस्पर भूपति चले महावन-में
चिन्ता आशा भय विश्वास सभी थे साथ नृपति मन-में।
सेवन करते रहे मार्ग-में नृप उस बूँटी को लेकर
जाते थे अविराम चले वे जैसे तैसे से वेकर।
देखी नृप ने मलते मलते बूँटी-की अद्भुत माया
अब नलराज न लगते थे वे बदल चुकी थी सब काया।
दस दिन में उस विपिनार्णव-से अपनी नौका को लेकर—
पहुँच गये सरयू-तट 'बाहुक' नाम स्वयं को नृप देकर।
कर मज्जन जल पान नृपति ने मानो विपिन-कलुष धोया
अमरपुरी-सी पुरी देख थे मुग्ध सकल पथ श्रम खोया।
विस्तृत सुन्दर सुखद स्वच्छ थी जन-परिपूर्ण महानगरी
विश्व-सिन्धु का पूर्ण-विभव मानो थी गोद भरे गगरी।
अवलोकन कर पुरी अयोध्या का बाहुक अति मुदित हुए
मोद भरी फिर राजसभा में वे विस्मय-से उदित हुए।
नृप ऋतुपर्ण राज-आसन पर शोभित होते थे ऐसे
नभ-में नक्षत्रों से घिर शशि छिटकाता है छवि जैसे।
मलिन वेश वह कृष्ण रूप जन नृप ने निज सम्मुख देखा
खिंची हुई सी लिखे गगन-में कृष्ण घटा की सी रेखा।
'कहो भद्र ! क्या-नाम तुम्हारा आने का भी हेतु कहो !
किसी निरंपराण जनपद के तुम लगे निवासी मुझे अहो !
यदि मुझसे कुछ कार्य बने, सकोच छोड़कर बतलाओ
अपना ही जनपद यह समझो भय-संशय कुछ मत पाओ।

प्रणति-पूर्व बाहुक विनयी हो लगे नृपति से यों कहने—
हे सम्राट् ! बसा आया मैं, होकर दास यहाँ-रहने ।
दाक्षिणात्य जनपद से आया बाहुक नामक मैं जन हूँ
स्व-जन-मुक्त मैं विपद ग्रस्त हूँ इससे ही क्लेशित-मन हूँ ।
सचिव सखा सेनानी से से कार्य दास तक के सारे—
कर सकता हूँ बड़ी दक्षता से मन-में धीरज धारे ।
पाक-शास्त्र में मुझसा पण्डित नहीं खोजने से पावे
एक ग्रास-में सभी रसों-का, हे नृप ! स्वादु तुम्हें भावे ।
यद्यपि सच है आत्म-प्रशंसा विज्ञ न करते भूल कहीं,
किन्तु, अपरिचित जन के आगे कहना पड़ता हाल सही ।
हय-विद्या में परम-विज्ञ मुझसा न मनुज नृप ! पा सकते,
अस्त्र-परख में देव दनुज भी तुल्य न मेरे जा सकते ।
उच्चैश्रवा-समान हयों-से हयशाला भर सकता हूँ
वायु-तुल्य अश्वों की गति हे राजन् ! मैं कर सकता हूँ ।
बधो भौंरियों से विशुद्ध शतपदी कुलीन श्रेष्ठ घोड़े—
गति-में गरुड़ समान किन्तु जो लगें देखने में थोड़े ।
शतयोजन अविराम भूप ! जो जा सकते हैं बिना थके,
सिन्धु देश में होते वे साधारण मनुज न जान सके ।
कुछ दिन यहाँ निवास करूँ फिर अपने घर चल दूँगा मैं,
बदले में हे राजन् ! कुछ भी धन न आप से लूँगा मैं ।
जीवित रहने के हित एक समय ही भोजन करता हूँ
लाज-निवारण हेतु एक ही बसन देह पर धरता हूँ ।'
'हे बाहुक ! तुम-सा जन पाकर मैं स्वयमेव कृतार्थ हुआ
व्याज तुम्हारे से हे आगत ! प्राप्त मुझे परमार्थ हुआ ।
किसी भाँति का कष्ट न होगा, करो निवास क्षम से तुम,
हयशाला को करो समुन्नत हे प्रिय बन्धु ! प्रेम से तुम ।
मेरे अन्तरङ्ग मित्रों-में गिने आज से जाओगे,
दस सहस्र स्वर्णिम मुद्रायें मासिक वेतन पाओगे ।

हय विभाग के अधिपति पद-पर अपनी अब नियुक्ति जानो
अपने श्रेष्ठ गुणों का ही है भद्र ! मान यह तुम मानो।
"आभारी हूँ भूप ! आपका पर कुछ द्रव्य न लूँगा मैं
मेरा कुछ व्रत राजन् ! उसको भङ्ग न होने दूँगा मैं।
बढ़ी हुई आवश्यकतायें बनतीं कष्ट निमित्त सदा,
वहां अनर्थ कराता माया जन से दुर्दम वित्त सदा।
इस माया के कारण राजन् ! बहुत कष्ट मैं उठा चुका
अब यह अपनी ओर तनिक भी मुझे न सकती कहीं भुका।
अन्य एक दो जन भी ऐसा व्रत ले मेरे अनुगत हैं
मुझ अभागे के कारण नृप ! महादुखों से वे वृत हैं।
जब तक उनको पूर्व-सुख्य ही प्राप्त न सुख हो पायेंगे
जब तक सब वस से ये मेरे पाप न सब धो जायेंगे।
अपनी सब इच्छाओं पर मैं प्राप्त न जब तक जय करलूँ
और न जब तक पूर्ण-दुखों की सहन-शक्ति सचय करलूँ।
तब तक के ही लिए देव ! यह ऐसा व्रत पालूँगा मैं
अपने प्रण को पूर्ण करूँ दुख से न कभी हारूँगा मैं।
सभा-सहित ये चकित भूप बाहुक की य बातें सुनकर,
विस्मय भरी भरा है ये सब मौन यही मन-में गुनकर।

नृप ऋतुपर्ण-अश्व-शाला का बाहुक ने सब भार लिया
सब भूतों को और हयों-को आरम-सदृश ही प्यार किया।
दूर दूर से क्रय कर घोड़े भरी गई वह हयशाला
मुक्ता-माणिक्यों-स मानो थी प्रदीप्त वह मणिमाला।
सिन्धु-देश के सम्बकर्ण हय, तन कृश किन्तु महान् बली,
दृष्टि उपेक्षित उन्हें समझती गति कहती य हैं विजली।
दशा जगह की दसों भौंरियाँ थीं विशुद्ध जिनके तन पर,
छाड़ धरातल उड़ते स वे बसें विचार यथा मन पर।

भक्ष्य चर्व्य दे पेय पुष्ट कर बना दिये वे सभी सबल
विविध रंग परिपूर्ण अश्व वे थे उनमें कुछ पूर्ण धवल।
कर परिचर्य्या मन से उनकी रोगादिक से मुक्त किये
लगे समझने वे नर-भाषा अन्य गुणों-से युक्त किये।
अपने स्वामी-हित करते वे प्राणों का भी मोह नहीं
घुसें अमल-में अर न सकें प्रभु-आज्ञा से विद्रोह कहीं।
हय-बल से साकेतपुरी की सेना-शक्ति अपरिमित की
मानो वायु-शक्ति सञ्चित कर बाहुक ने एकत्रित की।
अपने कार्य-मग्न वे रहते था न उन्हें कुछ अन्य व्यसन
बने तपस्वी तप करते थे एकाशन हो एक वसन।
दिन पर दिन जा रहे बीतते, काल चक्र स्वच्छन्द चला
नभ-में अगणित पूरी हो हो क्षीण हुई थीं चन्द्र कला।
कार्य-मग्न भी बाहुक को सब घरे उदासी रहती थी
भीतर भीतर, दामी-अनल सी चिन्ता उनको दहती थी।
कभी किसी ने उनके मुख पर देखी कुछ मुस्कान नहीं,
छिपी घटा-में विधु-लेखा सी मुख-शोभा निष्प्राण रही।
चलते चलते रुक जाते वे सोते हुए चौंक पड़ते
बैठे बैठे कभी दृगों-से आँसू मुक्ता-से झड़ते।
श्वासोच्छ्वास तीव्र हो जाता होता कभी स्वय ही मन्द
परम व्यथित रखता था उनको उनका ही वह अन्तर्द्वन्द।
याद कभी आता नारद का वह पूर्वानुराग देना,
वन मालेटक कभी याद आता था हंस पकड़ लेना।
उसे छोड़ना, उड़कर उसका निकट भीमजा के जाना
तीनों लोकों के वैभव-सा, सुधा सुखद-उत्तर लाना।
और बीच में-ही देवों से अपना विवश छल जाना,
उस छल का ही वर बन जाना, भैमी-के दर्शन पाना।
ओह! प्रतिज्ञा वे भैमी-की उन्हें व्यथित कर देती थीं
विषम-विलाप और पीड़ा-से उनका उर भर देती थीं।

याद स्वयम्वर की जब उनको भैमी की छवि आती थी
उनके प्राण तड़प-से उठते विद्युत-सी छू जाती थी।
पक्षी-का उस कमल-पुष्प से विजित स्वयं ही हो जाना
विश्व सुन्दरी स्वयम्वरा-से फिर अपना मांगा पाना।
आता याद विहार विपिन-का राजपाट का गत होना
व्यथित भीमजा-सहित विपिन में तरु नीचे भूखे सोना।
आखेटक द्वारा चित्रित जब ध्यान कुमुदनी का आता
चित्र-पटों में, तब नृप सिर श्रद्धा से था झुक सा जाता।
और तपस्वी अनुज रूप का स्मरण बना देता पानी
होते बड़े अधीर ज्ञान को जाते भूल परम ज्ञानी।
हाय ! अभागे ने मैंने ही सारे घर को दुखी किया
छोड़ चुका सन्तति भी अपनी सिर पर अपयश-भार लिया।
मैं कुलघाती हाय किये मेरे व्रण कभी न सूखेंगे
चन्द्रवश ! पुष्पित होने पर भी ये काँटे चुभेंगे।
उठती कसक असह्य उन्हें तब मुख से 'हाय' निकल जाता
पार्श्व-शयित जन उद्विग्न हो उनको देख भीति पाता।
आता याद छोड़ना जब वह वन-में रानी सोती को
असहाय अबला अमरा का धारे उस आधी धोती-को।
तब वह स्मरण-शक्ति भी उनकी कुंठित-सी हो जाती थी
तिमिर पाश आगे फिर आता दृष्टि न पथ को पाती थी।
ओह नराधम पापी हूँ मैं निकल तभी मुख से जाता
वृश्चिक-दंशन तुल्य हुआ तब बाहुक-तन तड़पन-पाता।
अमित चन्द्र नभ-में जब हँसता लेकर अपनी धवल छटा
उसे देख बाहुक-मुख पर तब घिर आती थीं शोक-घटा।
चन्द्रमुखे ! तुम आज कहाँ हो हैमवत ! आओ आओ,
तड़प रहा हूँ हत होकर मैं, मेरे प्राण बचा जाओ।
सब ऐश्वर्यों के छुटने से वन-में दुख अति निकट रहा,
पर, जब तक तुम रहीं निकट, सब कुछ ही मेरे निकट रहा।

आज मुझे जग सूना लगता, इच्छा रही न जीने की
दृष्टि अभागी पर, हठ करती रूप-सुधा-रस पीने की।
यत्तस्वाला से बस बाहुक यों-ही व्यथित रहा करते,
मदन-शरों को कवच-हीन से वे असहाय सहा करते।
पी पी, चातक कहता था जब कोयल कूक मचाती थी
श्यामल-घटा उफनती सी जब नभ-में घिर घिर आती थी।
विद्युत तड़प तड़प उठती तब सभी मेघ बाहुक रोते
हा भैमी हा भैमी ! कहते अश्रु-सलिल से मुँह धोते।
आ-जाता प्रण याद किन्तु जब तब कुछ धीरज पा जाते
मींच नेत्र, कर-तल पर मुख रख समाधिस्थ से हो जाते।
जीवल सूत पूछता उनसे मित्र ! व्यथित क्यों-रहते हो
बतलाओ, वह दुःख मुझे भी, जिसे रात दिन सहते हो।
यत्नों से ही कठिन कार्य-साधिका युक्ति मिल जाती है
मित्रों-से कहने से ही तो कष्ट-मुक्ति मिल पाती है।
"मित्र ! जानता हूँ मैं, एक अभागे ऐसे दुर्जन को
अपने हाथों गँवा चुका जो अपने सब तन मन धन को।
अपनी पतिव्रता पत्नी को आधी रात विजन वन-में—
सोती-हुई छोड़-आया वह दया न कुछ आई मन-में।
उसकी सती सुन्दरी का जब ध्यान मुझे आ-जाता है
हो जाता हूँ व्यथित न मेरा हृदय चैन तब पाता है।
इसी भाँति कुछ कह जीवल-से बाहुक छुटकारा पाते,
किन्तु वियोगानल लपटों-से, जलते-से फिर घिर जाते।

यदपि लहरता सिन्धु, गगन-में घिरे हुए घन,
चलता झञ्झावात, स्वयं केवट व्याकुल-मन।
घोर तिमिर छा रहा न था संबल लेने को,
हुई तदपि प्रण-नाव अवधि-तट छू-लने को।
मरने जीने का प्रश्न था मची हुई थी खलबली,
तब सत्याग्रित हो किन्तु वह कूल-निकट सरली चली।

छिड़ा हुआ सुरलोक में यह ही एक प्रसंग
निज-व्रत-निष्ठा श्रवण कर होते सुर भी दंग।

'बोल उठे देवेश करो कृपा अब कलि सुभग
क्यों-देते अति क्लेश निरपराध नल को अरे !

'बोले-कलि हे देव स्वयं अपमानित हूँ मैं
देकर उनको क्लेश स्वयं ही आहत हूँ मैं।
सुखोपाय कर चुका किन्तु, वे मानें तब तो !
मेरा तो प्रण गया पूर्ण हो उनका अब तो !

त्रयोदश सर्ग

हैं देह स्पन्दन, छुटे दुख - मृत्यु-रूपी—
दो प्रश्न ये सजग जो इनसे रहेंगे।
आघात श्येन-सम ही इनका बड़ा तो
हो भीति-मुक्त जन-स्वस्थ यहाँ रहेंगे।

सती थे आई भी पर न कुछ माना यह रहा
वनों-में देवी का निखिल-धन पानी बन बहा।
हुआ सो क्या ! पानी अमद च्युत भू-पै जब पड़
हँसे ये सीपी-सी निरख सब मुक्ता-धन जड़।

थे यद्यपि देह पर भाव न उनके गहने
काषायिक धोती मात्र सु तन पर पहने—
कुण्डिनपुर में थी प्रगट गगन-की भूपा
छिटकाती-सी थी छटा इन्दुकी रूपा।
पथ देख रही थी हाय, सूर्य कब आवें
अपना खोया धन, कमल-नेत्र अब पावें।
रहते बिखरे से बाल न सुध थी तन की,
अनियन्त्रित अश्व-समान दशा थी मन की।
थी मूर्ति वही, हाँ-वही विजन कानन की—
आ-गई प्रतिष्ठा-हेतु परन्तु-भवन की।
अब राजभवन भर गया विपिन के रीते
था उन्हीं [illegible] ताप यद्यपि दिन बीते।

घन कहाँ ! आम्र से भिन्न लता थी प्यासी
यह हास्य स्वप्न ! अब भरे अनन्त उदासी ।
कितना गहरा यह रंग सफल सब सहकर—
कहता मानो सिन्दूर माँग-में रहकर ।
आई जिस दिन विधु-वदना घटा से आवृत—
कुण्डिनपुर-में थी इन्दु समान समादृत
पर देख राहु-सा ग्रास उदास हुए सब
आशा पाकर भी हाय ! निराश हुए अब ।
यह कौन ! इन्हीं-सी अन्य सामने आई—
आपाद-मुकुर-गत बिम्ब-सखी-परछाईं ।
वह ही काषायिक वस्त्र गात्र-निर्भूषण
फूली सन्ध्या-सी वही सुखद निर्दूषण ।
वे ही मुमुक्षु से श्याम बाल लहराते
मुख-विधु पर बादल सदल शोक घहराते ।
दृग रहे अभी दो बिन्दु भरे नीरज से
पर था वह अ-थम बाँध अ-थम धीरज से ।
दो नदियों का यह मिलन उमड़ती आई
पावस-जल से परिपूर्ण घुमड़ती आई ।
पानी का पाटा कहाँ रहेगा अब-तो
टूट फूटेगा बाँध बहेगा सब तो ।
वे एक अन्य का बनी हुई थीं दर्पण
थीं देख रहीं सामने सभी निज-तन-मन ।
चिरदिन पीछे प्रतिबिम्ब आज निज दीखा—
वह दीन हीन कृश लता-विटप-सरीखा ।
मरने को मानो हानि हुई एकत्रित
दोनों मिलकर ही एक-तुल्य हों चित्रित ।
भर कौली लिपटी सिमट मिलीं सुधि भूलीं
आहा दो सन्ध्या साथ गगन-में फूलीं ।

हो सकीं कहाँ वे किन्तु पूर्व-सी पूरी
दो मिलकर भी थी एक सु-मूर्ति अधूरी।
था एक सलिल का स्रोत हुआ दोनों-का,
वह स्कन्ध-वसन जल-धौत हुआ दोनों-का।
आँचल भी रोकर लगा छोड़ने पानी
सगम-में उसने भी न कभी कुछ मानी।
"हा बहन कुमुदनी ! हाय ! हुई तुम कैसी
वह मूर्ति तुम्हारी कहाँ, विमोहक वसी।
मुझ-सी ही तुम्हें निहार विपत्ति-अभागी—
रह सकी न धीरज भरी यहाँ-भी जागी।
मै ही अभागिनी हेतु, दुखों का सब के
शोषित करते वे वेध वैर निज कब के।
पाकर तुमको दुख द्विगुण हुए थे मेरे,
मँडराये थे सर्वत्र मुझी-से प्रेरे।
मै साथ रही तब कुशल हा न वह भी अब,
तुमने री ! अपने हाथ किया यह क्या-सब !
वह स्वत: प्राप्त निज भाग्य स्वयं ही छोड़ा
निज प्रिय-जन से मुँह मोड़,द्रव्य क्या-जोड़ा।'
हाँ बहन किया था सभी ठीक तब मैंने
की प्राप्त बहन की बरद सीख तब मैंने।
तुम बन बन भटको और बनूँ मैं रानी
तुमने अपनी ही बहन न हा, पहचानी।
पर, मेरा यह प्रतिशोध चुकाया तुमने
मेरे कुल का ही यह फल पाया तुमने।
यह बन गिरिवर-सा गया, हाय ! राई का,
भाई ने निज अपमान समझ भाई का—
ऋण ब्याज बहन ने लिया बहन का सारा
न पुण्य बहन ! क्या किन्तु हमारा पारा।

—

मैं तो भाई थी उन्हें सजग करके ही
अपने सिर पर सब पाप-ताप धरके ही।
पर वे निशार्ध में घोर विजन कानन-में—
सोती को भागे छोड़ न सहमे मन-में।
हाँ-बहन! सतत वह एक रुलाती मुझको
वेदना विषम दिन रात घुलाती मुझको।
मेरे सिर पर धर हाथ हृदय से कह दो
था हुआ बहन! दुष्काण्ड निषध में वह जो।
उसमें मेरा भी हाथ मानती हो क्या—
मेरे मन का सब भाव जानती हो या।
'हा शान्त पाप सन्देह करें तुम पर भी
सच पूछो तो निर्दोष भरो! देवर भी।
विधि वश वे बने निमित्त न कृत यह उनका
मेरा देवर निष्पाप सिन्धु सद्गुणों का।
कर चुके मुझे वे क्षमा देव पर तब भी
क्यों घोर दुखों की घटा घिरी यह अब भी।
भावी को रोके बहन! शक्ति यों-किसमें
तब दोष किसी का रहा कहाँ कुछ इसमें।
यह हुआ वही जो अरी! अटल था होना
यह कलह-मूल है सदा धरित्री सोना।
'रोना धोना यह छोड़ उठो हे बेटी!
क्या-रही जगत में तुम्हीं भाग्य की हेटी।
यों कहकर नृप ने मौसी तभी बुलाई
मानो वो उलझी लता शीघ्र सुलझाई।
चिर दिन पीछे तुम इष्ट-सिद्धि-सी आई
मैंने अपनी सब लूटी आज निधि पाई।
तुमको सम्मुख अवलोक हुआ दुख कम-सा,
होगा न पिता हा-मेरे तुल्य अधम-सा।

कैसे पापों-से पलीं पुत्रियाँ मेरी
हा-कमल-कोमला वज्र-दुखों ने घेरी।
'कुशली तो हो हे तात! भीमजा बोली
रोकर वह लिपटी आर्त पिता-से भोली।
माँ-बाप जन्म के हेतु, न भाग्य विधाता
निज कर्मों-के अनुसार जीव फल पाता।
"हे बेटी कैसी कुशल और वह किसकी
आजन्म दुखी वह दुखी पुत्रियाँ जिसकी।
हों जिसके भिक्षु-समान सुता जामाता
हा-शोक तदपि वह अधम नृपति कहलाता।
हा हन्त! सु-राष्ट्र विदर्भ काम क्या आया
जामातृ-नृपा भी तुम्हें न जो यह पाया।
क्या-कहूँ किसी से कहाँ-स्वमुख दिखलाऊँ
इस जीवन से तो सुखद मृत्यु पा जाऊँ।
क्या-हमने ही दुष्कर्म किये जग-भर-में
जो फँसी हमारी नाव बुरी अधभर-में।
धीरज धर कर हो शान्त उन्हें भी पावें
सर्वत्र गुप्तचर छुटे खोजकर लावें।"
'आ निराभरण तू धन्य तपस्विनि! मेरी
असमय ही तू यों-हाय! जरा ने घेरी।
"हाँ मुझसे मेरी लिपट लाडिली बाला
जो तुझे सुलगती हुई हृदय-की ज्वाला।
मैं जीवित हूँ हाँ-महामहिम-सम्राज्ञी
जिसकी बेटी है निषधराज की राज्ञी।
क्या-किया हाय रे अधम भाग्य! क्या-सूझी
यह कल्प-लता सी विपिन-द्रुमों-से जूझी।
इस विस्तृत भू-पर अनुपमेय गुणवन्ती—
तू विश्वसुन्दरी हाय वही दमयन्ती।

श्रेयस्कर वे आशीष सभी से पाये—
मेरी बेटी के काम न हा क्यों आये।
फिर भी तुमसे मातृत्व उफन है मेरा,
कुलवधू-हेतु आदर्श मार्ग यह तेरा।
"तुमको भी मैंने दुख दिया हा मैया !
वे दमन दान्त दम कहाँ सलोने भैया !
जीजी हम तो थे रहे तुम्हारे अनुचर,
तुम भूल गईं क्यों हाय बहन ! अपना घर।
माँ-बाप बन्धु परिवार इसी हित होता—
करता सुख शान्ति प्रदान दुखों को खोता।
यदि निकल गया था राज्य निषध-का छल-से
तो जीजी ! हम सब बन्धु न थे निर्बल-से।
क्या-देख वहाँ अन्याय मौन हम रहते
छल कपट पूर्ण षड्यन्त्र न वह हम सहते।
नल पुष्कर एक समान यदपि है हमको
करते तब हम अपसरित किन्तु इस भ्रम को।
अपना वह कब ! जो असत आचरण करता
वह खल छल से जो अन्य भाग को हरता।
यह मनुज-मात्र तब वहाँ सु-न्याय चुकाता
निज दुष्कृत का फल वस्तु शीघ्र ही पाता।
होते ये दोनों ओर दान्त दम, भ्राता
मेरे सम्मुख तब कौन कहाँ टिक पाता।
मैं दुरभिसन्धियाँ सभी निषध से हरता
वह राष्ट्र जीतकर तुम्हें समर्पित करता।
धिग ये भुज बल के कोप, काम क्या-आये
अपनी भगिनी का भी न ताप हर पाये।
अच्छा मानो युद्ध हुआ न होता यह तब
तो था पदार्पित राष्ट्र विदर्भ जो है अब।

कहते कहते, उन घोर-कलुष हरणों में—
वह दमन दान्त दम हुए प्रणत चरणों में।
थी मस्तक पर पद-धूलि दृगों में पानी
सम्मुख थीं सिद्धि स-मूर्त नियम की रानी।
वे उठा उठा निज बन्धु सती ने श्रम-से—
भर लिये प्रेम से सभी अङ्क में क्रम-से।
उस काल सुशोभित हुई भीमजा रानी
सुर-गण-हित बरदा हुई कि अम्ब भवानी।
भैया! मैंने जब कष्ट अन्य से पाये
हाँ स्वयं भाग्य ही समझ स्व-शीस चढ़ाये।
वह मेरा व्रत मैं भङ्ग न कर सकती थी
यम को भी सम्मुख देख न डर सकती थी।
पर यह दुख यम-से भी अति तीव्र अभागा
जो विजन विपिन में मुझे-सुप्त को त्यागा।
हो गया भङ्ग वह मेरा मधु-सा सपना
मैं समझ सकी हूँ दोष न अब तक अपना।
कुछ औरों का भी दोष न माना मैंने
यह पूर्व-जन्म-दुष्कृत-फल जाना मैंने।
था अटल बन्धु! भवितव्य न टल सकता था,
मानव-बल उसमें सहज न चल सकता था।
कोदण्ड दण्ड के हेतु हुआ करता है
वह अधम दुष्ट का म्लान प्राण हरता है।
फिर तुम्हीं कहो यदि धनुष समर का भूषण—
घर-में धमता तो था न बड़ा क्या-दूषण।
तब तक जल-पूरित नेत्र कृशा सुकुमारी—
भमी ने देखीं खड़ीं भाभियाँ सारी।
वे रोकर दानव-पीड़ित दव-सुता-सी—
भैमी-चरणों में गिरीं विपन्न-लता-सी।

'हे सती शिरोमणि देवि ! न संशय मानो
ठहरो अब सुख से यहाँ निषध ही जानो।
आ-गया हमारा पुण्य शरीरी होकर,
क्या रहा निषध-में शेष तुम्हें भी-खोकर।
दीदी ! हमने यह सुना वृत्त सब छल-का
पाकर अब सम्मुख तुम्हें हुआ दुख हलका।
छोटी दीदी को देख देख सूनी-सी—
होती मर्मान्तक-व्यथा हमें दूनी सी।
ये तपश्चरण कर चुकी भवन-में जितना
वन में भी कर से दूर न सगन इतना।
पूजेंगी सादर हम सब तुम्हें नियम से
पाद्यार्घ्य करो स्वीकार नित्य तुम हमसे।
वे भी आवेंगे शीघ्र यही मन कहता
आजीवन जग-में कौन क्लेश ही सहता।
तुम पाकर उनका साथ हर्ष-से फूलो
माँ-बाप बन्धु परिवार, सभी को भूलो।
बनकर सभोगिनी विषम व्यथा भी झेली
परिहास न यह नभ-में क्यों ! सन्ध्या खेली।
क्या इन शिशुओं को उचित भूल जाना था
सौभाग्य-लता-फल-फल न बिसराना था।
यों-कहकर इङ्गित किया नेत्र प्रेरित कर,
भैमी ने सम्भ्रम-दृष्टि उधर की सत्वर।
देखे सम्मुख दो भीत सकुचित शंकित—
शिशु खड़े हुए, मृग-शावक से आतङ्कित।
अपलक होकर सुधि भूल, युगल वे तन की—
गति देख रहे आश्चर्य-चकित क्षण-क्षण की।
कर पकड़ परस्पर खड़े हुए वे चुप-से,
शोभित थे विकसित शतपुष्पी-के क्षुप-से।

सहसा वात्सल्य-समुद्र उमड़ वह आया
वैदर्भी-को कर विवश स्व-मध्य बहाया।
वे बढ़ीं अङ्क-में भर सपदि युगल-स
छलछला गये दृग-कमल शुष्क फिर जल-से।
जीवन-में पहली बार आभरण-हीना—
देखी दीना-कृशतमा-रुदित अपनी माँ।
यह जननी है या अन्य सोचते मन-में
उनको सहसा भ्रम हुआ वहाँ उस क्षण-में।
पर देख अन्य-को यथा एक ने धीरज
रवि-कर-सा पा उत्फुल्ल हुए स नीरज।
अश्रुस्पित-कर दृग-भूव न नमी वाली—
वह प्रतिमा-सी कुछ क्षण तक हिली न डाली।
युगपद युग-विधु परिपूर्ण प्राप्त कर एसे—
आ-गया सिन्धु-में ज्वार समाना कैसे।
पा-परस-तनोष्मा विवश रक्त ज्यों रहसा
जग गया सती-का स्नेह सुप्त-सा सहसा।
'मा इन्द्रसेन प्रिय पुत्र इन्द्रसना तू—
आह्लाद-विधायक स्पर्श मुझे देना तू।
'माँ रोती क्यों हो मौन भरी! हा आओ
क्यों हमें छोड़ तुम गई शीघ्र बतलाओ।
सब निज माँ के ही साथ यहाँ हैं देखा
हम जैसे मातृविहीन कहाँ हैं देखो।
माँ-भी बच्चों को कहाँ छोड़ जाती है
वह तो, निज सन्तति-संग सदा पाती है।
छोड़ो हमको, क्यों-उर पर व्यर्थ समेटे
तुम हो न अम्ब, हम नहीं तुम्हारे बेटे।
दीदी ही है केशिनी हमारी माता
तुम माँ होतीं तो ध्यान हमारा आता।

भाभी अच्छी हैं कभी न हमसे थकतीं
निशि दिन अपने ही संग हमें वे रखतीं।
पर वे भी तो चुपचाप सिसकती रहती
हम पूछें तब भी भेद न अपना कहतीं।
रपटे से दोनों अङ्क छोड़ माँ-कहकर
वे बस से पकड़े रहीं किन्तु सब सहकर।
हम बड़े-हुए अब बहुत न रुक-सकते हैं
निज आग्रह पर हैं अटल न झुक-सकते हैं।
'हा लाल! बड़प्पन झुक जाने को आता
जो बड़ा न झुकता वह सर्वस्व गँवाता।
आते तुम क्यों! यदि बड़े तनिक झुक जाते
आने से पहले ताप स्वयं फुँक जाते।
मुझसी दूषित माँ छोड़ तुम्हें यों ऐसी—
मिल गई सु-माता स्वयं अविदित हों जैसी।
मैंने छोड़े तुम छुटा स्वयं को पाया
मेरे दुष्कृत का दण्ड आप ही आया।
पर-हित जो खोवे गर्व वत्स! इस जग-में
बन जाता रूप विकास उसी-के मग-में।
मेरी ममता भी और छुटी माया भी
अपने तन की रह सकी न मैं छाया भी।
उस चण्ड दण्ड से लाल! स्वयं धृत-हूँ मैं
हा वत्स! न मारो अधिक स्वयं हत-हूँ मैं।
इस कुत्सित माँ-के अरे! सु-बेटा बेटी
ओ मेरी प्रिय सन्तान! न बन यों-हेटी।
फल छोड़ हाय! मैं मूल पकड़ने धाई
फल तो छूटे ही, मूल भी न छू-पाई।
निश्चिन्त रहो तुम लाल! न छोड़ूँ अब मैं
प्रिय-रूप जन विरह का ताप सह चुकी जब मैं।

भेंटो कुछ क्षण तो वत्स ! विकल हृदय-से,
पुष्पामृत सेवन करो, मुक्त हो भय-से ।
'अच्छा ! यदि हो प्रिय अम्ब बताओ तब तुम
कैसे आई हो यहाँ अकेली अब तुम ।
आ-पाये क्यों वे सङ्ग न आज तुम्हारे—
किस ठौर रुके रह गये सु-तात हमारे ।
करते जब जब हम याद तुम्हें घर रहते,
तब सब हमसे सब लोग यही थे कहते ।
छूट जायेंगे वे जब-कि अवधि के बन-से
तब आओगे तुम एक साथ ही बन-से ।"
'बेटा ! अब और अधीर न हो यों मन-में
वे छोड़ मुझे भी छिपे रह गये बन-में ।
आवेंगे हाँ-वे तुम्हें पड़गा माना
मैंने ध्रुव ! निश्चय यही स्व-मन में माना ।
कोई भी जग की शक्ति यहाँ-आने से—
उनको न सकेगी रोक, मुझे पाने से ।
मैं जीवित ही यों रही कि उनको पाऊँ,
वे आ न सके तो, स्वयं खोजकर लाऊँ ।
आकण्ठ यदपि मैं दुःखोदधि में पैरी,
दुर्भाग्य ! चुनौती तदपि तुझे यह मेरी ।
मत चूक शक्ति भर यत्न पूर्ण निज कर तू
जितना भी चाहे उदधि विपद का भर तू !
चाहे रखले जिस ठौर, छिपाकर उनको
पर, मैं भी हूँ जो प्राप्त करूँ प्रिय-धन को ।
मेरे जप तप व्रत हो न सकेंगे निष्फल
निज पातिव्रत का प्राप्त मुझे है सम्बल ।
कहते कहते दृग अरुण हुए, बस सूना
वह विरहानल उद्दीप्त हुआ फिर-दूना ।

आया दुख का आवेग सती के मन-में
वे शुष्क लता-सी हुई प्रकम्पित क्षण-में ।
'जल-गई रज्जु बल मरे किन्तु ये अब भी
सर्वस्व-हीन हो चुकी हाय ! जब तब भी ।
दे रहीं चुनौती किसे ! सखी तुम फिर यों
आनेमें लगी न देर, हुई अस्थिर यों ।
यह प्रथम चुनौती अभी अधूरी ही है
हा शोक ! असह की भूल अन्य यह दी है ।
कहते कहते यों-साधु-वचन-मुरझाई ।
भैमी-के सम्मुख सखी-केशिनी आई ।
रानी ने बढ़ दे अर्घ्य दृगों के जल-का
उर से लिपटाकर पूछा वृत्त कुशल का ।
मेरे सुख-दुख की पूर्ण-भागिनी आ-तू,
मैं हूं विलप्त शीतल छाया-सी छा-तू ।
ये पाल-पोसकर बड़े किये शिशु श्रम-से
हो सकती हूं मैं बहन ! उऋण कब ! तुमसे ।
मेरे हित सारी स्वाद अवाप्त सुखों-को
तुम बहन ! ग्रहण कर चुकी अगाध दुखों-को ।
मैं हाय ! अभागिन दृष्टि जहाँ-तक जाती
निज प्रिय-मनुजों-को विपद-ग्रस्त ही पाती ।
मैं कैसे कु-समय हाय ! जन्म-भर आई—
अब तक भी दुष्कर्म-भोग नहीं कर पाई ।
यह पापपुञ्ज है, अन्तहीन क्या मेरा,
तुम सब को भी दुख हुआ उसी का प्रेरा ।
आ-जाय मृत्यु तो सुखद मुक्ति मिल जावे,
मर्मन्तुद-दुख से स्वयं मुक्ति मिल जावे ।
मेरे मरने से धरा न कुछ हिल जाये
हो भार-मुक्ति का सौख्य पुण्य भू पाय ।

मर-गई बहन मैं किन्तु कहीं यदि ऐसे,
तो प्रिय-दर्शन का पुण्य-लाभ हो कैसे।
हाँ-समझें तब सब मुझे दुखों-से भीता,
यह मातृ-भूमि हो कलुषित परम-पुनीता।
क्या-आज-सदृश तब रहें सु-पितृ-पद-मानी
क्या-लो न झुकेगा सास ममता-मानी।
तव पति-पद रत-सम्मान धूलि-धूसर हो—
क्या-पुण्य से न वह पाप-पीठ अमर हो।
हाँ-सती चरण-लिपि स्वयं कलङ्कित-होगी
पर-सुख घातक खल-तुष्टि न शाश्वत होगी।
ये पाप भोग सब हो न सकें तब पूरे,
जप तप व्रत मेरे सब रह जाँय अधूरे।"
'हो शान्त देवि! मत शब्द अरुन्तुद बोलो,
हे सुधा सरस! मत तरल गरल अब घोलो।
हे परन्तपे! चिर जियो, मृत्यु को भूलो
विपदोदधि को कर पार, सुखों-से फूलो!
तुम नहीं अभागी सती-सुभाग-भरी हो,
भव-सिन्धु-पार प्रद स्वयं अमोघ-तरी हो।
हे सती-शिरोमणि! साधु साधु तुम धन्या,
साध्वी-गण में हो चुकीं प्रथम तुम गण्या।
तुमने नारी का सदादर्श दिखलाया
निज पति-पद व्रत का परम पाठ सिखलाया।
कर दिये व्याप्त सक्ति! भूरि भाव इस जग-में,
छोड़ेंगे मनुज न धैर्य दुखों के मग-में।
यह परम-सुखों से अनासक्ति सिखलाई,
तुम चरम-दुखों से, मीति-मुक्ति दे पाई।
कर स्मरण तुम्हारा भीत मनुज हों निर्भय
होगा कायर में स्वयं सु-साहस सञ्चय।

जब तक चमकें शशि सूर्य गगन-में तारे
तब तक गायेगा लोक सु-गीत तुम्हारे ।
हाँ-मैंने जैसे सात सुखों-को मारी
क्या-हूँ न देवि ! मैं शिष्या एक तुम्हारी ।
कर चुकीं पार जो सु-यश-सिन्धु तुम बल-से
मैं जब कराग्र भी भिगो-सकी उस जल-से ।
सखि ! यह सब पुण्य प्रताप तुम्हारा ही है
इन पद-पद्मों का मुझे सहारा ही है
यह तपोपूत तव-दृष्टि जहाँ-तक जावे
हो पाप-पुञ्ज सब भस्म पुण्य लहरावे ।
यह दिव्य अमर यश-कथा न मानव भूलें
दुख में न दुखी हों मनुज न सुख-में फूलें ।
मानस-सम करुण कथा मधु-दान कर सूखे
ये रूखे कष्ट रह गये तदपि हा, भूखे ।
प्रिय पति-पद रत सम्मान गगन-में छाया
अब-मधु दया यह पुण्य-सलिल लहराया ।
जैसे तैसे जब हुई अवधि गत इतनी
अब धैर्य-तरणि के लिए शेष यह कितनी ।
आओ अब करें सु-यत्न उन्हें पायेंगी
अणु अणु में होकर व्याप्त लोक छायेंगी ।
हो सुमति जहाँ-सखि ! वहाँ न क्या-शुभ-होता
धीरज-प्रिय मानव अचल वहाकर ढोता ।
अब चलो करो विश्राम थकी-माँदी हो
कुछ तो दुख की यह न्यून, मरी-आँधी हो ।
सखि ! परम दुसह है विषम-विरह की ज्वाला,
जिसकी दिव्यौषधि कान्त-सु-कर-मणि-माला।
हो शान्त घनमता स्वयं मेघ बरसेगा,
यह तप्त धरातल, स्नेह-सिक्त-सरसेगा,

पतझड़ बीते ऋतुराज आप ही आये
निज कनक सखा मणिराज असद्य पाये
मल-दग्ध सरस हो अमल-अलज फलेगा।
निज मिर्झलता के भाव सहज भूलेगा।
होगा आमूल विनाश वियोग-क्लेशों-का
पा मधु-स्पर्श, प्रिय-के पीयूष भुजों-का।
सखि ! मता-मञ्जरी आम्र विटप पर छाये,
सब भूल न जाना मुझे, सु-फल जब आये।
तुम नेत्र-निमीलित आह स्वयं भर लेना
मधु-चितवन ही बस मुझे दया कर देना।
यह इन्दु-किरण सो फट घटा-में निकली
यह गगन-तिमिर में हुई दीप्त-सी बिजली।
आ गई वहाँ पर सभी नारियाँ अन्या
कुण्डिनपुर में थीं सती समाहत भया।
वह सती योगिनी-रूप वियोगिनि होकर
निज सहज बहन के संग रहीं हँस रोकर।
मन-में प्रियतम की मूर्त्ति नाम जिह्वा-पर,
बन गया तपोवन पुण्य पिता-का ही घर।

थम रही अब तू-फिर लेखनी !
कह मता सिखना कुछ दोष है।
विरस मञ्जु सु-मूर्त्ति कहाँ-मरी !
मनलता यह सापद बद्ध है।

दुर्दिन-में वे ही दुग बनते सु-दिनों में सुख जो रहते,
शरद के शीतहर साथन ही ग्रीष्म में अङ्गार बन, दहते।

कह सखि ! कहाँ उन्हें मैं पाऊँ।
ढूँढ लिया है पत्ता पत्ता किधर भाग में जाऊँ।
रहते यदपि सदा वे संग
पर हैं नीरव और अनङ्ग
सुखदायक भी करते तङ्ग किसको व्यथा सुनाऊँ।
कह सखि ! कहाँ उन्हें मैं पाऊँ।
समझ रही, मेरा ही ध्यान—
करा-गया उनको दुख-पान
विष-दे गये सुधा-सी जान कैसे उन्हें बताऊँ।
कह सखि ! कहाँ उन्हें मैं पाऊँ।
पकड़ा मधु बनकर यह हाथ
और छुड़ा भाग भव साथ
पर, हैं मेरे ही तो नाथ किस पर क्रोध दिखाऊँ।
कह सखि ! कहाँ उन्हें मैं पाऊँ।

मर्मान्तिक ही उठ रही विरह अगम की हूक
सखि ! ऐसा कुछ यत्न कर, सब दुख जाऊँ भूल।

तन सिसक सिसक कर जलता
सखि ! उदारता है यह या नारी-मन की दुर्बलता।
मन प्रतीक्षा करती करती—
जलती ही रहती यह धरती,
तदपि जिसे वरती बस मरती वही हृदय-में पलता।
तन सिसक सिसक कर जलता।
नदी प्रथम-से हसती हसती—
चढ़ती गिरती, जमती बसती—
पर, जब प्रिय को निरख उबलती, नीरधि तभी निगलता।
मन सिसक सिसक कर जलता।

पूर्ण इन्दु को पाकर सजनी
खिला खिला कर निज नीरजनी
करती सब न्योछावर रजनी वह अगले दिन ढलता।
तन सिसक सिसक कर जलता।

सह घन-ताप और हिम-शूल
अपने तन मन की सुध भूल
लता खिला देती जब फूल तब माली मा-दलता।
तन सिसक सिसक कर जलता।

सखि! हम इस सब को क्या मानें
तत्त्व तत्त्व ही कैसे छानें
सफलता कि असफलता जानें भेद न है कुछ चलता।
तन सिसक-सिसक-कर जलता।

मोह, मनोभव से अधिक दुष्ट न सन्तति और
मन को ही देता सदा यह पापी दुख घोर।

जल जाने से अभागा व्यसन-वेदना जानता है,
तथापि यह रह रह कर जलाता है कय! मानता है।

तू श्याम-घटा घिर आई।
मँडराई झक झूम सजल हो कैसी फिर उमड़ाई।
उमड़ रही तू उसके बल-से
झक-भरी जिस निर्मल-जल से,
ठहर लहर मत चपल पुलस से, क्यों निज सुध बिसराई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
अभी, अभी तो मोद भरी तू
पर अब हो जल हीन, अरी! तू,
जीवेगी फिर नहीं मरी तू क्या-मुख में मुरझाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।

घम घम मुझे तब तक धमकावे,
कवली ! पाया जा-सो पावे
पड़ें जान के ही फिर लाले होगी जब भरसाई ।
तू श्याम-घटा घिर आई ।

जब तक स्व रस न फिर पावेगी
तब तक मुझसी बिलखावेगी
और याद यह सब आवेगी जब जो धूम मचाई ।
तू श्याम घटा घिर आई ।

अत न यों सौभाग्य जता तू
मैं तप्ता मत मुझे सता तू,
नीरव रह प्रिय-मोद रता तू, सफल तभी तरुणाई ।
तू श्याम-घटा घिर आई ।

कहाँ वे गये छोड़ ऐसे अरी !
भले ही रहूँ मैं दुखों-से भरी ।
न छोड़ूँ, सुधा-रूप प्यारा पीऊँ
सहूँ आपदायें मरूँ या जीऊँ ।

मेरी आँखों-में श्याम न निद्रा-हित अब,
उसने ही हा उत्पात किया है यह सब ।
कैसे, वे जाते छोड़, न यदि यह होती,
अब भरे उसी-की जगह दृगों-में मोती ।
मैं लुटा रही दिन रात न निबटें रहे ये
चुपचुप-कर इनमें किन्तु सु-मन्द, बहे ये ।
सखि ! घन जैसे ही बरस उठे सावन-घन,
कैसे रोकूँ मैं हाय ! विवश बहता मन ।
वे नहीं हृदय-से होकर तन से न्यारे,
हा बैठे होंगे कहीं विवश मन मारे ।

जिसमें प्रिय मुख का ही पुनीत-संयम है—
आ-गया मात्र-पद वही तिमिर का तल है।
ये अन्ध-निशायें-घिरीं, न काटे कटतीं
करतीं हैं हृदय-विदीर्ण विकल-उर फटतीं।
विद्युत भी अपनी चमक दमक दिखलाती,
कर-देती कभी प्रकाश कभी छिप-जाती।
सब लहर उठे नद-नदी-झील-लघु सर भी
पर मेरे हित सब चले, विपिन-गिरि घर भी।
धुक धुकी हृदय-में जगी, झपट ये निकली
सखि! शोक-वाष्प की बूंद रपट य मचली।
खिल गया शरद का पूर्ण चन्द्र प्रिय-मुख-सा,
दे पाया यह भी मुझे परन्तु न सुख-सा।
हे आलि! तुझे है याद आज भी आया
वे पहले दर्शन! देवदास जब आया।
तू देख खड़े हों कभी यहाँ-वैसे ही,
मैं तड़प-रही हूँ व्यर्थ यहाँ ऐसे ही।
वह राजहंस भी हाय न अब आता है
यह मुक्ताओं का कोष लुटा जाता है।
शिशु भी ये देख अबोध स्वयं रो पड़ते हैं
हा, हृदय-खण्ड सन्तप्त तरस हो पड़ते हैं।
मैं पीत, तदपि यह शीत, सभीत किये है
वे विगत दृश्य, यह परम पुनीत लिये है।
यह वेला था अति सौख्य आज सब भूला
सखि! डाल रहा ऋतुराज उभर निज झूला।
ओ कोयल! वर्जित हुआ यहाँ-पर गाना,
जा मधुर भाषिणी! खग उन्हीं-न आना।
बस एक दिवस ही मोह! हलाहल पीकर,
वे, नील कंठ हो-गए स्वयं शिव शंकर।

जब जब मुझ तब तक चमकाले
कजली ! पाया जा-सो पाले
पड़े जाल के ही फिर साले होगी अब भरसाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
जब तक स्व रस न फिर पावेगी
तब तक मुझसी बिलखावेगी
और याद यह सब आवेगी मय जो धूम मचाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।
अब न यो सौभाग्य जता तू,
मैं सप्ता मत मुझे सता तू,
नीरव रह प्रिय-मोद रता तू, सफल तभी तरुणाई।
तू श्याम-घटा घिर आई।

कहाँ वे गये छोड़ ऐसे मरी!
भले ही रहूँ मै दुखों-से भरी।
न छोड़ू सुधा-रूप प्यारा पीऊँ
सहूँ आपदायें, मरूँ या जीऊँ।

मेरी आँखों-में स्थान न निद्रा-हित अब,
उसने ही हा उत्पात किया है यह सब।
कैसे वे जाते छोड़ न यदि यह होती,
अब भरे उसी-की जगह दृगों-में मोती।
मैं लुटा-रही दिन रात न मिलेंगे रहे ये,
घुलघुल-कर इनमें किन्तु सु-मज्ज बहे ये।
सखि ! इन जैसे ही बरस उठे सावन-घन,
कैसे रोकूँ मैं हाय ! विवश यह ता मन।
वे नहीं हृदय-से होकर तन से न्यारे,
हा बैठे होंगे कहीं, विवश मन मारे।

जिसमें प्रिय-मुख का ही पुनीत-सपन है—
आ-गया भाद्र-पद वही तिमिर का दल है।
ये अघ-निशायें-घिरीं, न काटे कटतीं
करतीं हैं हृदय-विदीर्ण विकल-उर फटती।
विद्युत भी अपनी चमक दमक दिखलाती,
कर-देती कभी प्रकाश कभी छिप-जाती।
सब घहर उठे नद-नदी झील-लघु सर भी
पर मेरे हित सब जले, विपिन-गिरि घर भी।
धुक धुकी हृदय-में जगी, लपट य निकली
सखि! शोक-वाष्प की बूँद रपट ये मचली।
खिल गया शरद का पूर्ण-चन्द्र प्रिय-मुख-सा,
दे पाया यह भी मुझे परन्तु न सुख-सा।
हे आलि! तुझे है याद नाम की माया
वे पहुँचे दमन ! दशदास जब आया।
तू देख, खड़े हों कभी यहाँ-बैठ ही
मैं तड़प-रही हूँ व्यर्थ यहाँ एक ही।
वह राजहंस भी हाय न अब आता है
यह मुक्ताओं का कोष सूना जाता है।
शिशु भी ये देख अबाध स्वयं गो पड़ते हैं
हा, हृदय-खण्ड सन्तप्त तरल हो पड़ते हैं।
मैं पीऊँ तदपि यह आस सभीत किये है
वे विगत हरष, यह परम पुनीत लिये है।
यह देता था अति सौख्य आज सब सूना,
सखि! हास रहा ऋतुराज उपर निज दूना।
ओ कोयल! वर्जित हुआ यहाँ-पर गाना,
जा मधुर भाषिणी! संग उन्हीं-के जाना।
बस एक दिवस ही मोह! हलाहल पीकर,
ये नीम कंठ हो-गये स्वयं शिव शंकर।

यह विरह-हलाहल किन्तु मुझे यों-पीते—
कल्पों-के सम ये वर्ष अनेकों बीते ।
हो सका यदपि कुछ अंग न कोई ढीला
मन रमी सुधा-प्रिय-मूर्ति, दिखाती लीला ।
यह उसी मूर्ति की कृपा, न छूता यम है
यद्यपि यह जीवन भार, न यम से कम है ।
जैसे तैसे भी बना विरह की ज्वाला—
वे झेल रहीं पी रहीं निरन्तर हाला ।
फिर भी था खरतर शोक कहाँ ! मिल पाता
घिरता तम नेत्र समक्ष बोध सब जाता ।
हो जाती थीं निस्सञ्ज्ञ लता-सी गिरतीं
पाकर अनेक उपचार चेतना फिरती ।
दोनों बहना को मिला केशिनी-संबल,
था बीत रहा दुख-काल युगों-सा पल पल ।
सखि ! हुई अवधि तो पूर्ण कहाँ वे आये
कुछ अधिक स्पष्ट भी वृत्त न उनके पाये ।
दीखा न अभी तक हाय ! सुखद वह सपना
आ-सका न बहन ! दुखान्त अभी क्या अपना ।
प्रेषित अपने सब लौट गुप्तचर आये,
पर, कुछ भी तो सवाद न सुखकर लाये ।
करके भी यह प्राणान्त परिश्रम कितना !
कर पाये विप्र सुदेव विदित बस इतना ।
साकेत-पुरी में एक-सूत रहते हैं,
जो, अपना बाहुक नाम स-मुद कहते हैं ।
उनमें सब लक्षण मिले निषध-पति-जैसे
हय-विद्या में निष्णात गुणी व वैसे ।
मिलती न मूर्त्ति की किन्तु कान्त-से काया
कर बैठे हैं क्या नाथ यहीं कुछ माया ।

रहते हैं सूत वार्ष्णेय निकट ही उनके,
उसने भी भेजा वृत्त बहुत कुछ गुनके।
रहता है बाहुक एक वस्त्र ही धारे,
वह छोड़ चुका-सा भोग जगत के सारे।
विरहानल-से दिन रात जला जाता है
निज पत्नी के प्रिय-गीत मुग्ध गाता है।
वह भेद न अपना कहीं तनिक बतलाता
पर, किसी वस्तु से भी न शान्ति है पाता।
शुभ-लक्षण है सखि! एक और ध्रुव तारा!
जब मैं सन्त्यक्त हुई नाथ के द्वारा।
उस कुसमय के दो चार दिवस ही पीछे—
पहुँचे थे बाहुक वहाँ स्व-सौख्य-उलीचे।
अब बहन! रहूँगी एक महा-माया में
पाऊँगी अपना विटप-कान्त, छाया में।
या तो अब सत्वर प्राण-नाथ को पाऊँ
यदि पा न सकी तो मरूँ स्व-देह जलाऊँ।
सखि! हैं वे कुशली आप जहाँ भी रहते
ये प्राण अन्यथा कष्ट न इतना सहते।
वैसे इस तन को छोड़ सहर्ष प्रथम ही,
फिर माया देखो दृग-समक्ष फिर तम ही।
गिर पड़ीं हुई मूर्च्छिता स-शोक पुनीता,
कर रहीं विविध उपचार सखी सब भीता।
वे स-जग हुईं, यह दृश्य किन्तु नित होता,
यह शोक तीव्रतम नित्य सजगता खोता।
वे विटप-भिन्न-सी लता सूखती जातीं
हँसतीं-रोतीं, चुप कभी कभी कुछ गातीं।
बस रहा समय का चक्र घोर निशि गहरी
पर, प्रिय-स्वप्न का मोह बना था प्रहरी।

भैमी बैठीं भी तनिक सान्त्वना पाकर,
दासी ने नत-हो किया निवेदन आकर—
स्वामिनि ! पुष्कर युवराज आज ही आये
शुभ प्रणति-पुरस्सर पूछ तुम्हें भिजवाये ।
वे चाह रहे हैं देवि ! आप से मिलना
दर्शन कर होना कृती, पुष्प-सा खिलना ।'
"जा-कहो शीघ्र वे चले यहाँ-पर आवें
सम्भव है वे ही कुछ शुभ-वृत्त सुनावें ।

आये चलकर वह, साधु-वेश में आये
वे पास सुलकर जटा-जाल बन छाये ।
वे घहर रहे दुखशोक-मेघ विधु-मुख-पर,
लग रही दुखों-की विजय स्पष्ट-सी मुख-पर ।
आँखें धस से मर रही क्षीण थी काया
हो चुके दीन सर्वस्व-हीन गत-माया ।
स्वागत के हित उठ सकी न भाभी तब तक
वे गिरे छिन्न-तरु तुल्य पगों-में जब तक ।
"देवर ! हो जाओ शान्त छोड़ दो रोना
तुम धीर वीर हो उचित न कातर होना ।
परिवार-कुशलता शीघ्र मुझे बतलाओ
कल्याण भरे तुम रहो, उठो, अब आओ !
जिसका न साम्य विधु-पूर्ण कभी कर पाया,
वह जीर्ण-शीर्ण है हाय ! स्वर्ण-सी काया ।
"जिसने फूँका परिवार अनल-सा तृण-की
तुम पूछ रही हो कुशल उसी-से उस की ।
मैं मरता यदि तो हाय न ये दुख होते
हो मातृ भूमि से भिन्न न सब यों रोते ।

मैं महापाप कर चुका कुपगति घेरा
कर-चुका नाश यह मुकुट मोह ही मेरा।
सब फूंक लोक परलोक बना मैं राजा,
मत कुल-घातक से कहो-कि 'देवर आ-जा'।
मैं हूं विचित्र सम्राट् मुझे मत देखो
मेरी सत्ता-का कुफल, सदय तुम लेखो।
भैया भाभी-ही काढ़ दिये हा घर-से
लघु शिशु भी बचे न हाय अधम-पुष्कर-से।
पत्नी ने भी तो पुण्य-वदन निज फेरा
तुम उसी-अधम को कहो कि देवर मेरा।
'मैं निहत स्वयं हूं तात! मुझे मत मारो
मत आत्मताड़ना करो न साहस हारो।
मैं देवर का कुछ दोष न मान रही हूं
अपने को ही कुल-घातक जान रही हूं।
गत का न कभी कुछ सोच मानते ज्ञानी
करते हैं मानो पूर्ण नियम व्रत वाणी।
है मुझे अटल विश्वास नाथ आवेंगे
हम सब अवश्य निज प्राण-नाथ पावेंगे।
पर तुमने दुष्कृत से भी लाभ उठाया
जग को यह अद्भुत सुखकर पाठ पढ़ाया।
क्या-तुमने कुछ सुधि आर्य्यपुत्र-की पाई
यह पूर्ण हुई है अवधि, न आये स्वामी।
'मुझको न चला कुछ भेद खोज मैं हारा
पथ देख आर्य्य का रहा निपथ बहु सारा।
आया था मैं तो यहाँ-स्वयं सुधि लेने
बहुत बने के हाथ इसी को देने।'
'हम अघु-धनी हैं आज समुद्र बहाया
निश्चय समझो अब पाप कूल-तर आया।

कुछ दिन ठहरो भव यहाँ निषध तब आना
कुमुदनी दोष को तात् ! न मन में लाना।
कर देना उनको क्षमा विनय यह मेरी
होती क्षम्या ही सदा स्व-पव-की चेरी।
ठहरो देवर ! कुछ काल भभी मैं आऊँ
कुछ मिष्ट तुम्हारे लिए भभी मिजवाऊँ।'
भक्षम्य स्वयं मैं किसे क्षमा क्या-दूँगा
भाभी ! उनसे ही क्षमा मिली तो लूँगा।

ले मिष्ट-पूर्ण वह पात्र भौर जल शीतल
पुष्कर के भागे भड़े खिले से शतदल।
काँप गये युगल भन्यान्य-दशा भवलोकी
वह चलीं भश्रु-जल धार यदपि भति रोकी।
'भूलो हे प्रेयसि ! भूल हुई जो मुझ-से
कर दो हे देवि ! विमुक्त स्व-कोप-कुलज-से।
था मैं तो इस ही योग्य किया जो मैंने
धोया तुमने सब ताप दिया जो मैंने।

भश्रु-में ये भरग प्रिय-क था दृगों-में नीर,
वेदना-मय श्वास चलते थे हृदय का चीर।
हो-गई थी जीभ जड़-सी क्यों-निकलते बोल
विखर छितराये घटा-से विधु-बदन पर भोल।

'हे स्वामि ! निषध में चलें तभी
भावेंगे भब निषधेश कभी !
तब क्षमा साथ ही पावेंगे
सन्ताप, पाप, धुल जावेंगे !

चतुर्दश सर्ग

बैठे हैं नृप ऋतुपर्ण पीठ के ऊपर—
साकेतपुरी-में इन्द्र सदृश वे भू-पर।
लग रही सभा आसीन सभासद हैं सब
मानो सुर पुर का छोड़ अमर आये अब।
हैं कान्ति शान्ति से युक्त दिव्य-ही आनन,
सहसा गरजा-सा वहाँ मधुर श्यामल-घन।
बोले-नृप लाओ शीघ्र अश्व-बल-पति को—
मेरे बाहुक प्रिय-मित्र गुणज्ञ-सुमति को।
आज्ञा पाकर झट झपट विनत सेवक-जन—
बाहुक को लाया बुला अगे कुछ ही क्षण।
वे एक वस्त्रधर सब भव-वैभव त्यागे—
कर प्रणति खड़े हो-गये नृपति-के आगे।
'क्या-आज्ञा है हे देव! विनय के स्वर-में—
बोले वर्षा-सी हुई अमृत की घर-में।
'बैठो बाहुक! अनिवार्य-कार्य-वश सहसा—
तुम क्षमा करो जो दिया कष्ट दुस्सहसा।
कुण्डिनपुर-से द्विज श्रेष्ठ सुदेव पधारे
दे चुके यहाँ के वृत्त मुझे वे सारे।
बैठे-हुए बोले-बाहुक शङ्कित-से—
क्या विदित-भेद-नृप मन-में आतङ्कित-से।
'हे देव! कृपा कर कहो वृत्त वे सारे,
जिस कारण द्विजपति यहाँ सकष्ट पधारे।
हो गया आपका क्रीतदास-सा जग-में,
आज्ञा-पालन-हित सज्ज समुद्यत तव-में।

क्या-कार्य पड़ा मैं शीघ्र जानना चाहूँ
मानूँगा नृप-आदेश स्व-कृत्य निबाहूँ।
हो दास न बाहुक! बन्धु-समान हमारे,
हम भूल सकें उपकार न मित्र! तुम्हारे।
हय-क्रम का अनुपम बोध दिया तुमने ही
यह नाम अयोध्या सफल किया तुमने ही।
बदले में कुछ भी कभी न लेना चाहा
सन्मित्रों का कर्त्तव्य पवित्र निबाहा।
हाँ-तो यह अद्भुत वृत्त सुनो हे ज्ञानी!
कुण्डिनपुर के नृप-भीम यशस्वी-मानी—
जिनकी दमयन्ती विश्व-सुन्दरी बाला—
सद्गुण-मणि-पूरित दिव्य दीप्त-सी आभा।
वह रूप मोह! क्या-कभी भुला-पाऊँगा
बलि बलि उस-पर मैं यशोगीत गाऊँगा।
वह ही अनिन्द्य सुन्दरी आज पति त्यक्ता
अह! परमगुणी भी भाग्य लिपि न पढ़ सकता।
देवों-से भी वह हुई थी न भयभीता,
उस परम-शक्ति ने स्वयं इन्द्र को जीता।
फिर निषध-देश के गुणी यशस्वी मानी—
नृप नल को वर कर बनी उन्हीं की रानी।
वे नल नृप मेरे मित्र गुणों के सागर
भैमी के ही अनुरूप! त्रिलोक-उजागर।'
"क्या-वे ही नल जो जुआ अनुज-से खेले,
रे नहीं! देव-वश कष्ट उन्होंने झेले!"
"क्या हुआ आप! फिर" सुनो वृत्त हाँ-आगे—
खोये-से भैमी-ताप क्रुद्ध-हो भागे।
वन-में पति से हो त्यक्त उदास रूपवन्ती—
पितृ-गृह पहुँची सौन्दर्य राशि दमयन्ती।

वे वन घर, बाहर खोज निराश थकी हैं
पर, निषधनाथ को कहीं न देख सकी हैं।
दुखिनी निज भौतिक-ताप सभी हरने को—
फिर से प्रस्तुत वे स्वयंवरण करने को।
दुख रहे कहाँ-जो भोग न वे पाई हैं
इस पथ-पर होकर विवश अतः आई हैं।
निज स्वामि-हेतु दुख-मूल जगत-में 'सोना'
पर परमदुःख सहचरी-सुन्दरी होना।
वह स्वामी के ही नहीं स्वयं के हित भी
होतीं अति दुख का हेतु, जगत-में नित ही।
कल का दिन ही है शेष परश्व स्वयंवर—
होगा उसका वह चुने, पुनः निज प्रिय-वर।
वह दृश्य पुरातन भव्य दिव्य दृग-मन-हर—
क्या-दिखा सकोगे बन्धु ! कृपा कर मुझ-पर।
सुर नर किन्नर, गन्धर्व निशाचर तब सब—
सभी प्राप्तोत्सुक वहाँ पधारे थे तब।
भर-गया सभासद वह विलास-मण्डप भी,
ऋषि मुनि समुपस्थित हुए भूल जप तप भी।
सब मुँदे नेत्र, जब सहित चमकती आई,
वह दाल चन्द्रों की ज्योति गमकती आई।
मद-सुधा वृष्टि-सी हुई भान सब भूले
फिर दृग सबके अनिमेष, कमल-से फूले।
वह छटा छिटकती चली स्वर्ग-की भू-पर,
हाँ-नहीं कल्पतरु खिला था न तब ऊपर।
नर्तन करता सा काम कुटिल धनु भ्रू-पर,
वह छोड़ रहा छोड़ न तीव्रतम निज-शर।
वह रूप-मण्डिता सुधा-पूर्ण पदमी-सी,
जगती सुर तरु-की विजय-सुरम्य-कली-सी।

ये मनोजयी भी प्रसित-व्यथित मन्मथ-से,
पी रहे रूप-की सुधा दृगों-के पथ-से।
हे बन्धु ! दृश्य हाँ दृश्य यही दिखला दो
वह रूप आज नेत्राग्र मित्र ! फिर छा-दो।
हो गई देर यह समाचार पाने-में
अब हो बस तुम्हीं समर्थ मिला-लाने में।
कम समय मार्ग अति गहन दूरतर जाना
शत योजन भर यह नगर जिसे कल पाना।
मानव-बल तो यह सोच सोच ही थकता
अतिरिक्त तुम्हारे कौन ! वहाँ जा-सकता।
यह सूतराज-वार्ष्णेय यहाँ जो रहता,
निज को नल-नृप का सूत गर्व-से कहता।
आवश्यक हो तो इसे सहायक चुनलो
पर जाना है ध्रुव ! मित्र ! हृदय-में गुनलो।
बस कर दो यह उपकार मैं न भूलूँगा
जो भी चाहोगे सखे ! भेंट वह दूँगा।
बाहुक सुनकर यह वृत्त हुए जकड़े-से
तन मन उनके सब हुए मन्त्र-पकड़े-से।
विस्फारित-दृग रह गये सभी सुध भूल
मानो यम-के पड़ गये शीश-पर भूले।
आहृत पासे-से सत्य, पड़े फिर बोले,
हो किंकर्तव्य विमूढ़, न कुछ भी बोले।
नीरव क्यों-हो हे मित्र ! श्रवण-कर फिर-यों,
वे नृप-से कहने लगे, सँभल कर ज्यों-त्यों।
क्या-कहा देव ! भैमी फिर वरण करेगी,
वह यशस्विनी निज-यश अपहरण करेगी।
सतियों-में जो मणि-मुकुट सदृश शोभित है,
जिस पर सद्‌गुण की अवलि, स्वयं लोभित है।

वह भैमी जो पति-हेतु सुखों-से हीना
प्रिय-संग राज्य-को छोड़ बनी जो दीना।
वह भैमी जिसका सुयश मुग्ध-सब गाते
खोजे से भी उपमेय न जिसका पाते।
बन सकती जो पति-हेतु अनल-में हँसकर
क्या-आज चपल्चुत वही ! दुखों-में फँसकर।
देवों को जो दे चुकी चुनौती भयमय
कहते उसकी श्रीमान स-शोक पराजय।
हिमगिरि ने छोड़ा स्थान मान निज सारा
वह भगा सिंधु-सा छोड़ स्वकीय किनारा।
यह सूर्य प्रसवनी हुई दिशा पश्चिम-सी
हो चली अनलता देव ! आज तो हिम-सी
हो जाये धर्म-विमुक्त प्रलय-सी होगी।
यह सती-मान-भव-भूति विलय-सी होगी
साधारण की क्या-कथा सती भी अब यों
है पुन स्वयंवर-हेतु समुद्यत अब यों।
यह सत्य, पुरुष का भाग्य गति-स्त्री मन की
सुर भी न सके हैं जान, कथा क्या-जन की।
हैं जग-में ये विख्यात सहस्र-पञ्चसम-मन,
कर निज पति-हत्या स्वयं जलावें निज-तन।
क्या-कहूँ किन्तु यह हृदय न मान रहा है
इस समाचार को मिथ्या जान रहा है।
है भमी सचमुच सती, सु-सन्तति-वाली
वे करेंगी न निज शुभ्र-कीर्ति यों-काली।
बन सकती वज्र कठोर कहीं मृदु-मन-भी,
क्या कहता है मन स्वयं कहो-मृदु तुम भी।
'बाहुक ! तुम बह-से गये व्यथित क्यों-ऐसे
मर्यादा अपनी छोड़, गिरी यह कैसे !

यह एक पक्ष की बात मित्र ! तुम कहते—
युग-सा बीता है उसे दुखों-से सहते।
क्या-एक हाथ से तुम कर-तल ध्वनि चाहो
पुरुषों का कुछ-कर्तव्य न श्रेष्ठ सुचाहो !
वैभव क्या-क्या उसने न स्व-पति-हित छोड़ा
सुर-पुर निवास से मोह ! समुद मुँह मोड़ा।
पति-हेतु अमर-अप्रीति स्व-शिर पर झेली
पति-हेतु विपिन की विषम व्यथायें झेलीं।
छोटे-छोटे शिशु हाय ! स्व-पति-हित त्यागे
वह सती राज्य-सुख छोड़ स्व-पति से आगे।
सोती अबला-को तदपि पति-विद्रोही—
निर्जन-वन-निधि में छोड़ गया निर्मोही।
ऐसे नर हित क्या-चले अमल-में नारी
क्या समझ ताल-का कूप पिये जल-खारी !
मेरा तो दृढ़ विश्वास यही है भैया
सत्पति-पत्नी-से चले श्रेष्ठ गृह-नैया।
क्या-स्वपति-निष्ठ आदर्श-पूर्ण हो नारी
हों क्यों-न कुमार्गी पुरुष दुरिच्छाचारी।
युग-पक्षी-ही आदर्श मान्य है पूरा,
वह एक पक्ष से बन्धु ! सदैव अधूरा।
मैं निन्दा करता नहीं मित्र-नल मेरे,
आये थे सब दुर्दैव कुमति-के प्रेरे।
वार्ष्णेय सूत-से विदित हुआ मुझको सब,
है अटल धारणा बन्धु ! यही मेरी अब।
उन युग-चरणों ने पाठ-पढ़ा सद्गुण का,
कर दिया वंश-आदर्श अतुल अब उनका।
मैं मान रहा अत्युच्च-चरित शुभ-भूषण,
दम्पति-ही में हो, शेष न कोई दूषण।

आदर्श-वादिता सभी अन्य-से चाहें,
पर पहले उसको स्वयं स-हर्ष निबाहें।
अन्योन्य-हितों का ध्यान धरें वे युग-ही,
सोल्लास अन्य का मान करें वे युग-ही।
हों युग ही वे निष्कपट, सदय सस्नेही
धरती-पर है वह स्वर्ग सफल वे गेही।
उपभोग्य-वस्तु है नारि न केवल नर-की
वह कल्याणी है प्रथम मातृ जग भर की।
तुम उससे चाहो जो-कि वही-वह चाहे
हाँ-वह तुमसे भी अधिक स्व-कृत्य निबाहे।
है हे नरेन्द्र! यह सत्य तुम्हारी वाणी,
मैंमी-की मैंने सभी विवशता जानी।
पर वैदर्भी-सा सु-धन जब-कि यह छोड़ा
राजन्! तब होगा विवश न मन-भी थोड़ा।
है उचित भीमजा करें प्रतिज्ञा-पूरी
अब पूर्ण अवधि-में रही तनिक-सी दूरी।"
तुम जान न पाये अरे! अवधि तो कब की—
वह बीत चुकी है पूर्ण प्रतिज्ञा सब की।
नृप खोज लिये सर्वत्र परन्तु न पाये,
अब तक भी तो वे नहीं स्वयं ही आये।
या तो मन है विक्षिप्त अवधि को भूल
ले उड़े अन्यथा उन्हें मृत्यु के झूले।
हो गई अवधि जब पूर्ण नलानुज सब ही—
हो नतमुखी धर बार छोड़कर सब ही—
पहुँचे कुण्डिनपुर भीम-सुता का प्रण
उनका समृद्ध-वह राज्य उन्हें ही देने।
वे मान-न सकीं कर यत्न थक सब ही तो
आइ न, बिना कुमुदनी भी ता।

हो पुष्कर भाव निराश, वहीं-पर रहते,
अपने कृत का उपभोग विषम दुख सहते।
अच्छा, होती है देर, प्रबन्ध करो अब
कुण्डिनपुर-पथ का ध्यान, सहर्ष धरो अब।
सुन अवधि पूर्ण की बात नियध-पति चौंके,
वें तरु को यथा प्रकम्प हवा के झोंके।
समझी मन-में निज भूल लगाकर गिनती,
फिर नृप से करने लगे प्रणत वे विनती।
सवस्व-माया निज समझ दुखी थे मन-में
कुछ भी न रही आसक्ति उन्हें जीवन-में।
'तुम क्षमा करो हे भूप! न मैं जाऊँगा
मैं तो अब जीवन अन्त शीघ्र पाऊँगा।"
आ-गया मार्ग-में सर्प भयानक जैसे
जड़-सुप्त रहे नृप वचन श्रवण कर वैसे।
पर होकर सहसा स्वस्थ धर्य धर मन-में
यों बोले-मधु-सा घोल स्वकीय वचन-में।
हे बाहुक ! पड़ता जान मुझे तो ऐसे
भैमी-से कुछ सम्बन्ध तुम्हारा जैसे।
ये भाव भङ्गिमा सभी तुम्हारे मुख-की
कहती-सी नीरव बात विगत सुख दुख की।
जब जब भमा का नाम लिया जाता है,
तब तब ही कुछ आवेग तुम्हें आता है।
सुन पुनर्वरण का वृत्त हुए तुम व्याकुल,
बैठे हो अब भी स्तब्ध गहन शोकाकुल।
हैं वार्ष्णेय से विदित मुझे सब बातें
तुम तड़प तड़प कर काट रहे क्यों रातें।
किसके विरही हा भद्र! स्व-देह जलाते
वह कौन सुन्दरी! गीत-किसके गाते।

हाँ-महापुरुष दुख ग्रस्त, गुप्त रहते हैं,
वे किसी से न निज भेद कभी कहते हैं।
तुम निषधनाथ तो नहीं छिपे-हो-छल-से
आ-बाहुक बन आ-गये कहीं क्या-नल-से।
निज हृदय-भेद को छिपा, हँसे बाहुक तब
हे नृप! यह क्या-सन्देह हुआ तुमको अब।
नल रहे तुम्हारे मित्र उन्हें तुम जानो,
उनमें मुझमें क्या-भेद न तुम कुछ मानो।
यह विस्तृत जग, सम-दुखी बहुत ही रहते,
निज-कृत-विडम्बना, मनुज न क्या-क्या सहते।
थी एक सुन्दरी मुझे प्राण-सम अपने
हो चुके भाव थो किन्तु सभी वे सपने।
मैं भी हूँ नैषध-तुल्य विपद-मारा ही
है नष्ट लोक परलोक सौख्य सारा ही।
यों-कहा व्यथित-मैं सुनकर उनकी बातें,
हो गईं स्मरण निज निहत भाग्य की घातें।
जाने-में मुझको और कष्ट ही होगा,
विडम्बित-सा जीवन शेष नष्ट हो होगा।
मैं पादप्रणत मुझको भी देखो जानो
लौटाओ निज निर्देश, विनय मत टालो।
यों-कह नीरव थे, वह दुर्दान्त-विषैला—
अपना प्रभाव-कर गया, देह-में फैला।
छटपटा-रहे से प्राण हृदय छिदता-सा
भू-भाग विषाद मम, लगा उन्हें हिलता-सा।
नत-मुख बैठे निज कमल नेत्र कब! खोल,
कुछ सोच अयोध्यानाथ स्नेह-म बोले—
हे बाहुक! बन्धु-भी मानो बात हमारी,
मैं, विषम-अवस्था समझा सभी तुम्हारी।

तुम पर-कृत-साधक सुजन, सौम्य शुचि चोखे
देते हैं कब सन्मित्र समय-पर धोखे।
वे दुख में निज को नाश मित्र-कृत करते,
देने में भी निज प्राण न भक्त ! मुकरते।
यदि नहीं विनय तो नृपादेश भव मानो
अपने को मेरा एक प्रजाधन जानो।
तुम पहुँच समय पर गये मुझे यदि लेकर—
तो अनुपम तुमको अक्ष ज्ञान वह देकर—
मैं सफल स्वयं को समझ, मुदित अति हूँगा
तुम हय-विद्या दे सको उसे तो लूँगा।
वह अक्ष ज्ञान सब भव-सन्ताप हरेगा,
कलि तक का दुष्ट प्रभाव विमुक्त करेगा।
यों-कह, बाहुक कर पकड़ प्रेम-से सत्वर—
उठ गये स्वयं कर खड़ा मित्र-को नृपवर।
बाहुक शोभित थे और नृपति अति शोभित
थे श्याम-श्वेत गिरि-निकट खड़े-से शोभित।
बाहुक ने गुन पर-श्रेय प्रेय कुछ अपना
करना चाहा वह सत्य कुसब भी सपना।
थे विश्वासाविश्वास निराशा आशा—
भैमी-दर्शन का मोह, सत्य-जिज्ञासा—
इन सबको उर-में भार हुए गमनोद्यत,
था यद्यपि भार से हुआ हृदय उनका हत।
वार्ष्णेय सूत को निज समीप बुलवाया,
प्रावश्यक पा यावेश उन्हें समझाया।
जो अपभय हो सबत्र गरुड़-सम दौड़े
वे छह्‍ मट-से श्रेष्ठ चतुष्टय-घोड़े—
बतलाय सैंधव शुद्ध अमरि दश वाले
जो वायु-रूप ही स्वयं, स्नेह से पाले।

पाकर फिर कुछ एकान्त शान्त कर निज मन
बाहुक ने सविनय किया देव अभिवन्दन।
हे देवराज ! यम वरुण, अनल, तुम आओ,
अपने वे सब वर पूर्ण आज कर जाओ।
हे वायु देव ! तुम आज सदेह पधारो,
मुझ प्रणत अकिञ्चन जन को सदय निहारो।
यह रथनौका हो पार बनो तुम केवट,
जो मिट जायें ये आज आप चिर-झंझट।
है मुक्ति मुक्ति युग मुझे यदपि अब सम-सी
जो मित्र-समस्या किन्तु समक्ष विषम-सी—
पूरी सत्वर हो जाय नाथ ! यह वर-दो,
निज दया-पूर्ण दृग-पात दास-पर कर-दो।

उस ओर स्वयं कपि विकल हुए पहले-से,
अब सुन सुरपति-आदेश और दहले-से।
बोले—विनीत कर-बद्ध शक्र से सब वे—
समझो बस आपद-मुक्त दम्पती अब वे।
हे देवराज ! वे परम पुण्य-व्रत-धारी
हैं सती-शिरोमणि भीम-नरेश-कुमारी।
पुण्यानल-में पड़ परख हुई यह उनकी,
वह अमर यशस्वी युगल निरत यह गुण की।

है स्थित ऋतुपर्ण नरेश दिव्य उस रथ-में
वह कौंधा-सा जा रहा चमकता पथ-में।
वार्ष्णेय संग पर स्वयं सूत बाहुक हैं,
लग-रहे आज ज्यों-पवन-पूत बाहुक हैं।
वह वाजि-वेग अह ! छू न रजस्कण पाते,
हय, छोड़ भूमितल आज उड़े-से जाते।

पथ-वृक्षों को भी देख नृपति कब ! पाते,
दृग-पात पूर्व ही दृश्य स्वयं छुट जाते।
रथ ही है या-कि विमान सुरों का है यह,
मन-में यों स-मुद नरेश सोचते रह रह।
मुँदते दृग, वेग असह्य वायु का लगता
यह मातलि सुरपति-सूत, मुझे था-लगता।
'लो उत्तरीय यह गिरा तनिक रथ रोको'
'नृप ! अब योजन भर दूर उसे अवलोको।
'क्या इतनी गति-से अश्व बढ़े जाते हैं,
'दृग-सम्मुख जब तक ! इन्हें देख पाते हैं।
तुम बैठे रहो नरेन्द्र ! सँभल-कर रथ-में
कुछ अप्रिय घटना घटे न जिससे पथ-में।
अश्वों-का पद पद शब्द घोर स्यन्दन-की
घोरों-का रव खो रहे शान्ति सब वन की।
वह गरज रहा मृगराज करिणि यह भगती
क्षण-भर वह हय-गति महानदी ने धरती।
नद नदी सरोवर झील अचल वन-द्रुम—
को चला लाँघता सु रथ विमल-सा सद्रुम

बाहुक की यह सारथी कला विधि-गति भी—
मोचन-आकर्षण-वस्तु, विराम सु-यति भी—
अवलोक हुए वार्ष्णेय सुविस्मित मन-में—
नय-गुण में था यह नैषध, किन्तु न तन-में।

बैठे नृप शोभित हुए फूल से फूले,
क्षण भर वे विस्मित किन्तु न उसको भूले।

सौ सौ चन्द्रों की ज्योति, दमकती भमी
मण्डप-में, ले जयमाल गमकती भैमी।

बाहुक भी मन-में खिन्न छिन्न से व्याकुल,
तरु मूल लता-से भिन्न हुए-से आकुल।
घर नष्ट भ्रष्ट लग रहा उन्हें जग सूना
देता था वह द्युत आज दुख दूना।

अश्वों की अद्भुत दशा, कहाँ वे थकते
मानो पूरा भू भाग नाप अब सकते।
जिन पर हों देव कृपालु कठिन क्या-उनको,
सब आसे लगती देर न कुछ दुर्गम को।
अविराम चले रथ रुका नर्मदा तट-पर,
थे खेल रहीं रवि-किरण नील जल पट पर।
थे स्वय तुरग फिर शक्ति वायु से पाई
यह रथ आया या स्वय नदी बह-आई।

अश्वों-को कुछ पौष्टिक-सा भक्ष्य खिलाकर—
कर-दिया स्वस्थ-सा शीघ्र सु-नीर पिलाकर।
फिर मज्जनादि कर मुदित हुए सब मन-में,
पाथेय लिया खोया-सा पथ श्रम-क्षण-में।
रवि कर पाये थे कहाँ अभी पथ पूरा
पर, नप रथ तो आ-गया, मनोरथ पूरा।
बाहुक पर हुए कृपालु नरेश मुग्ध-मन,
विधि-पूर्वक किया प्रदान अक्ष-विद्या धन।

जिससे सब भव के ताप काँप-कर भागें,
कर थाम स्वयं सब सिद्धि खड़ी हों आगे।
यह था उत्कृष्ट सुदान नाम था देना,
इस हाथ दिया उस हाथ पड़ा यह लेना।
नृप ने बाहुक से अश्व ज्ञान सब सीखा
सब भुवनों का व्यवहार मूल-सा दीखा।

था समाचार नृप भीम लिवाने आये
पर कुछ न स्वयंवर चिह्न अतिथि को पाये।
दीखी न तनिक भी पुरी उन्हें यह सज्जित
मैं ठगा गया यह सोच हुए वे लज्जित।
हे अतिथि! देखकर तुम्हें हृदय अति हरसा
यह हुई अचानक बिना मेघ की वर्षा।
कैसे पथ भूले आज कृपा की राजन्,
हाँ-है न निरापद राज्य? सुखी सब तन मन।
'हे आतिथेय! है दया आपकी अब-तक
है सब प्रकार से कुशल अशेष तब तक।
चिर-काल हुआ वृत्तान्त न था कुछ पाया
नृप दर्शनार्थ ही आज चला मैं आया।'
घेरे, आगत-को रही परन्तु निराशा
मानो छाया गिरिराज शिखा धूहा-सा।
घन चला गगन में, पुरी-भाग सब भरजे
सुन घोर घोर जन चकित हयादिक गरजे।
होकर आनन्द-विभोर मोर रव करते
दंपति हृदयों-का नेत्र सुखों-से भरते।
आतंकित शिशु छिप गये मात अंकों-में
कितने खग व्याकुल सिमट गये पक्षों-में।

घर छोड़ दौड़ कमनीय रमणि निकली-सी
वे गमक धमक से दमक रहीं बिजली-सी।
कच कुच नितम्बिक भार कहाँ झिलता था
वह काम-कनक-तरु झुमक झूम हिलता था।
खिंचती-सी आती भीड़ चाप-से रथ-के
भर गये सचासच पार्श्व जना-से पथ-के।
रथ-बढ़ा निकट आ रहा राज-तोरण-के
ज्यों-चला स्वर्ण-गिरि निकट सुरेश भवन के।

सुन वह श्रुतपूर्व सुघोष भीमजा चौंकी
उर-की आतुरता हर्ष-वेग-से रोकी।
निज अर्घ-पूर्ण प्रिय-दृष्टि बहन-पर डाली
अञ्जन ने की ज्या इन्दु-कला रखवाली।
नीरव उत्तर हो मिला दृगों-से मानो
(जीजी! कष्टों का अन्त निकट अब जानो।
हो गई तपस्या पूर्ण अभीष्ट समागत
धुल चुके कलुष हो गये पुण्य सब जागृत।)
वे क्षुब्ध हृदय से उठीं क्षीण विधु रेखा
वातायन-में झुक झाँक काँप कर देखा।
केशिनी झुमुन्नी साथ अधीर झुकी-सी,
श्वासों की गति भी शून्य-समान रुकी-सी।
रथ दीख-पड़ा प्रिय-हीन रिक्त घन-सा ही
भासा मन में निष्प्राण उस-तन-सा हो।
रह गई सती-की दृष्टि, अशोक फटी-सी
पद-युग नीचे से धरणि अनन्त हटी-सी।
फिर भूली-सी रह गई—रिक्त-ही झोली,
वे रोष रोक, कुछ संभल क्षीण-सी बोलीं—

वार्ष्णेय सहित उपविष्ट अयोध्यापति वह
दोनों को मेरी समझ रही है स्मृति यह।
मनचाहा भ्रम यह एक! हाँकता रथ जो
प्रिय रथ गति-सा ही बहुत रहा है पथ तो।
पर, वह जन तो निस्तेज कुरूप अभागा—
इसके मुख-पर प्रिय-तुल्य कहाँ! रवि जागा।
वह सजल कहाँ रथ वहन! अनल है मुझको
अपना यह जीवन स्वयं विफल है मुझको।
सचमुच होगा यह अनल जलूँगी अब मैं,
दया-शून्य हीन निष्पाद चलूँगी अब मैं।
इस लोक में न पा सकी खोज कर हारी
अब जाऊँगी वह लोक करके तयारी।
पायेंगी ही प्रिय कहीं रहूँगी अनुगत
मैं जन्म जन्म में करके पूर्ण अपना व्रत।
हे बहन! भूलकर मुझे, निपथ तुम जाना
निज पति-पद की पा शरण अरणि वन जाना।
गत की कुछ भी तुम उन्हें न याद दिलाना
देना उनको सन्तोष स्वयं सुख पाना,
केशिनी! कहूँ क्या-तुम्हें न शब्द विदित हैं,
बस ये दो आँसू शेष तुम्हारे हित हैं।
हाँ एक कामना शेष आज बस मेरी,
मैं जन्म जन्म में रहूँ स्व-प्रिय-पद चेरी।
इस जीवन-में हो सकी न प्राप्त सफलता,
चिर-दिन से जलता गात अवाप्त अनलता।
वह धोखा ही लग गया सुदेव सुमति-को,
वह दिया व्यर्थ ही कष्ट अयोध्यापति-को।
कल ठंडी हो यह देह वियोग-ज्वलन्ती
रह जायेगी बस कथा-शेष दमयन्ती!

ऐं, यह क्या! वे कुछ ठिठक झिझक फिर बोलीं
सम्मुख सुनती दो साधु-वदन-नत भोलीं।
यह शप्त धरा पर देव-सुधा बरसी-सी,
हत-शुष्क लता कर स्पर्श जिसे सरसी-सी।
देखो मेरी यह वाम आँख अब फड़की
जब जमा स्नेह तब हन्त! वर्तिका भड़की।
अब वह रथ भी आ रुका अश्व-शाला में,
मच गई सनसनी उधर अश्व माला-में।
वे निषध अश्व हिनहिना रहे हैं बस!
आ-गये सामने स्वयं निषध-पति जैसे!
होते नर में भी अधिक आलि! हय स्नेही,
यों-अदल रूप आ-गये कहीं-क्या वे ही।
गिर पड़ता है फल आप वहन! जब पकता
अल्पावधि में यों दूर कौन! आ-सकता।
सपने-में भी पर-पुरुष-ध्यान जो मन-में—
आया हो मेरे कभी न इस जीवन-में।
तो उड़ जाये सब कपट दृष्टि-से मेरी,
रक्खो हे प्रभु! अब लाज धरए में तेरी।
पर, सखी केशिनी! यहाँ प्रथम तुम जाओ—
बच्चों को लेकर साथ भाग शुभ पाओ।
जैसे भी हो सब भेद न-चुकिन निकालो
तुम बहन मुमुन्नी! मुझे सवेग सँभालो!

अश्वों-से हो निश्चिन्त वहीं भूतल पर—
बैठे थे बाहुक म्लान सुमन-सम स्मर-पर!
हो रही दुर्दशा चरम परम धुम मन-की
आती थी उनको याद विगत जीवन-की।

वह दिन भी था ! जब यहाँ प्रथम मैं आया
वह दिन भी था ! जब यहाँ विवाह रचाया ।
पाया कितना सम्मान बना मैं मानी
थी स्वयं सिद्धि-सी मिली भीमजा रानी !
यह भी दिन है हा हन्त ! अनन्त विधाता !
तेरी गति को जन जान कहाँ, कब पाता !
है यदपि स्वयंवर चिह्न न आज यहाँ कुछ,
निश्चय ही है पर भेद सु-गुप्त महा कुछ ।
अभी को ही यह रची हुई कुछ माया
क्या उसने ही साकेत-नाथ बुलवाया ।
या छल-से मेरी प्रणय-परीक्षा भी यह
निज पत्नि-त्याग की उचित सु शिक्षा दी यह ।
आया हूँ चलकर आज एक शत योजन
कर सका कहाँ ! यह धरा स्व-निर्मित भोजन ।
मैं परिचित ही कर दिया त्याग-के दुख-से
सुख भूल विकल अब पड़े अधम यों-युग-से ।
मैंने दमयन्ती मात्र वधू निज जानी
अवशेष स्त्रियाँ यदि मातृ-तुल्य हों मानी ।
तो अब मुझको वह रत्न मिलेगा फिर भी
आतप-विमुक्त हो सुमन खिलेगा फिर भी ।

"क्या सोच रहे हो सूत ! श्रवण-कर आगे—
बाहुक ने देखी खड़ी केशिनी आगे ।
हम सत्यज्ञानी जान पड़े तुम मुझको,
पर, दम रही मैं स्पष्ट सूत-हृद्-रज को ।
परिवार तुम्हारा कुशल-पूर्ण तो है सब
क्यों-चिन्तातुर-से उदासीन बैठे अब ।

रह रह बच्चों की याद तुम्हें आती क्या—
निज प्राण-प्रिया-विरहाग्नि सताती है या।
सकपका गये से सूत वचन सुन मानो
जागृति-सी वे पा गये स्वप्न-से जानो।
वे, अर्ध-निमीलित-नेत्र खुले अब पूरे—
सकोप-हीन-उस मुखर-तरुणि-पर घूरे।
देखे सम्मुख दो दिव्य-मूर्ति शिशु उसके—
हैं खड़े पकड़-कर वस्त्र उसी-का कसके।
मानो दो सुन्दर सु-फल दिये हों तप-ने
केशिनी-सहित पहचान लिये वे नृप-ने।
उमड़ा करुणा-मद पर याहुक ने सहसा—
निज वज्र-हृदय से रोका वेग असह्-सा।
की दृष्टि उन्हीं-पर हुई किन्तु यों-वाणी—
ढलते ढलते ही रोक दृगों-का पानी।
"था कभी पत्नि-सन्तान-युक्त मैं रागी,
पर अब भव-राग-विमुक्त हुआ हूँ त्यागी।
पत्नी की चिन्ता किसे ! रहेगी अब यों—
हो चलीं मार्ग-से भ्रष्ट सती-भी अब यों।
शुभ नारि-धर्म की लीक न शेष रहेगी
फट जायगी ध्रुव धरा ! न भार सहेगी।
कल घुस जायेंगे पक्षि, यहाँ जन जन के,
चपल मल छल बस देख नारि के मन-के।
अब पुनर्वरण का सती-स्वांग जब होगा,
यह धर्म सुप्त-संसार भस्म तब होगा।
'हा, शान्त पाप ! विष वचन कहो मत ऐसे,
तुम उपालम्भ दे रहे सती-को कैसे !
निर्जन वन-में निर्दोष सु-सुप्त दशा-में—
निज प्राण प्रिया, अनुपम तथार्थ निशा-में—

जब परित्यक्त हो चुकी पुरुष-के द्वारा,
तब क्यों-न भस्म हो सका, जगत यह सारा।"
'होगी नर-सम्मुख नहीं यही कुल बाधा,
या यों-निज पत्नी-सौख्य पुरुष न साधा।
यदि अन्य पत्नि-युत हुआ आज दुर्मति-वह
तो है सचमुच ही त्याज्य व्याधि-सा पति वह।
होकर विपन्न भी करें स्वय निज रक्षा
हों धैय-धारिणी शील रक्षिणी-दक्षा।
निज मूढ़-स्वामि को भी जो करें क्षमा-ही
हैं वे नारी कुल-वधू पवित्र रमा-ही।
उन सतियों के ही गीत लोक गाता है
उन से ही रक्षित धर्म हुआ आता है।
मैं भी हूँ गृह-से भिन्न विपन्न अभागा
सब धाम धरा स्त्री पुत्र छोड़ जो भागा।
पर किया उन्हीं के सौख्य-हेतु यह मैंने
विपदोदधि का ही रचा सेतु यह मैंने।
यह पुनर्वरण का सती-वृत्त दुखदाई
बस अब तो मृत्यु अभीष्ट ! वही सुखदाई।
मेरे भी ऐसे तनया और तनय हैं
क्या-कहूँ मुझे वे प्राण-तुल्य-ही प्रिय हैं।
बीता अब तो चिरकाल न उनको देखा,
भूले होंगे वे स्वय पिता की रेखा।
कहते, कहते, नृप बड़े साधु हो थोड़े,
वे दोनों बालक उठा हृदय-से जोड़े।
मुँद-गये सजल-से कमल-नेत्र कुछ उनके,
शिशु भी न डरे थे सहज धीर कुछ गुनके।
क्षण भर पीछे दृग खोल कहा-यों-बल-से,
हों मातृ-हीन ये बाल अभागे कल-से।

अच्छा आओ, तुम देवि ! न अब यों आना
है श्रेष्ठ विगत को स्वप्न-तुल्य-ही माना।
कहकर शिशु तरु से भिन्न प्रफुल्ल सु-मन-से,
कर दिये अंक से पृथक परन्तु न मन-से।
"मैं तो आती हूँ सुत ! तुम्हारी जय हो
मंगल-मय हो सब मार्ग विगत भव-भय हो।
हो पुनर्मिलन अब अटल सती का फल ही
पाती नलिनी सन्तोष प्राप्त कर जल ही।
हो जायेंगे सब शुष्क स्वयं गद-गद भी
ये मातृ-हीन शिशु न हों मिलें पितृ-पद भी।
वह चली गई शिशु-संग वचन कह हंस-के,
था भार-हीन-सा हृदय उठे पद हँसके।

थे रिक्त-घड़े भी पूर्ण, स्वयं मधु-जल-से,
हाँ-हुआ ज्वलित-भी अग्नि मंत्र-के बल से।
भोजन में भी वह विदित-स्वादु ही आया
पर देती थी सन्देह सुत की काया।
हो गई परीक्षा पूर्ण दूर-की सारी,
थी शेष रही साक्षात्करण की बारी।
ले मात पिता आदेश केशिनी-सहिता—
चल-पड़ी सती वे रूप शोक से रहिता।
रूखे बालों का जटा-जाल बन छाया
प्रतिपन्न चन्द्र-सी क्षीण, मलिन पर काया।
था प्रगट सूक्ष्म सिन्दूर घटा-में काली,
करता भैमी-सौभाग्य-सुधा रखवाली।
थी लिये हाथ-में रम्य सुमन-मय-माला,
लघु-खड्ग पारव-में छिपा, प्राणमन-वाला।

या तो यह माला स्वप्रिय-कण्ठ भरेगी
या अधम प्राण मेरा यह खड्ग हरेगी।
दोनों प्रकार से ही यह विरह अनमता—
मेरे हित आज प्रदान करे शीतलता।
या कापायिक ही वस्त्र एक वह तन-पर,
विधु पर घन था वह या कि स्वयं विधु घन-पर।

बैठे थे बाहुक तभी सामने देखा—
आती है कम्पित खिंची स्वर्ण की रेखा।
वे उठे कि जब तक नेत्र सुधा-से सींचे—
तब तक छाया आ-रुकी स्व-तरु के नीचे।
नत-वदन सती का उठा दृष्टि अंजन-सी—
वह तपोपूत निष्पाप ताप भञ्जन-सी—
बाहुक मुख पर जब पड़ी कुतूहल जागा
सुख फल उठे से स्वयं भीत भय भागा।
केशिनी देखती खड़ी सुदृश्य छटा-को
मानो निकला रवि चीर अभेद्य-घटा-को।
बाहुक हो गये विलीन प्रगट अब नल थे,
उस सती-दृष्टि से धुले महौषध-क्षम थे।
नृप-वदन पुण्य-मय हुआ पाद थे सुख-मय
करते थे ऊपर देव सती की जय जय।
भेजे भ्रमरों ने फूल वायु से आया
सुमनों ने वह उपहार सुमन-मय पाया।
आया नृप-उर पर, वदन सती का जब तक,
कह उठी विहँस कर सखी केशिनी तब तक।
लो पुनर्वरण तो पूर्ण सती का पण यह,
तब क्या-जाने फट जाय धरा भी कम्प यह।"

वह करने को सुख दान वहाँसे सब-में—
जिसकी होकर मन-मुदित न जागे जग-में !
भुज-पाश-फँसी भी काँप रहीं थी रानी,
मुख-पर झर झर बह रहा दृगोंसे पानी ।
करतीं विरहानल शान्त, मधु-जल-सा ही
वे स्नेह-सिन्धु-में मग्न युगल थे स्नेही ।
मिल गये परस्पर-हृदय सजड़ता भागी
वह स्नेह-धार बह चली ज्योति-सी जागी ।
"क्या-सचमुच हूँ मैं प्राण-नाथ भुज-बद्धा
'हे प्रिये ! धर्म साधार मिली हाँ-श्रद्धा ।
"अपना खोया धन नाथ ! पा चुकी दासी
'हो सफल सर्वदा प्रिये ! अटल-विश्वासी ।
"मैं पुन प्राप्त कर चुकी प्राण पद-भिन्ना
'कब रही कल्प-की लता स्व-तरु उच्छिन्ना ।
हे हृदय देवि ! तुम रहीं सदय हृदय-में
जो देती रहीं प्रकाश विपद-में भय-में ।
साकार हुई अब निराकार वह माया
हे प्रिय ! तुम्हारा पुण्य, अवधि बन आया ।
निज जन्म जन्म का संग भंग क्यों होता
क्या-ऊषा को आरक्त रंग यह खोता ।'
'रागी ने तो वैराग्य परम-पद माना,
पर दासी ने निज दोष न अब तक जाना ।"
"था दोष यही, मुग्ध था मैं न दोष तुम्हारा
आकर लौटा हे देवि ! तदपि दुख सारा ।
अब अमर हुई तुम छवि ! किया मुझको भी
अपने रस का मधु भाग दिया मुझको भी ।
मिट गया सभी हृत्ताप जुड़ाकर तुमको
तुम सरस-सुधा-सी मिली, उसास्थ्रे द्रुम-का ।

देखो ! कैसी जन भीड़ उमड़ती आई—
भर कर स्वागत-उत्साह जय-ध्वनि छाई ।
मैं जान चुका हूँ यहीं-कि पुष्कर आता
उस पुण्य-बन्धु-हित, शब्द न मुझको पाता ।
मुझसे ही यह भी सूझ हुई कुछ थोड़ी
अतिरिक्त अवधि कुछ, पूर्ण अवधि में जोड़ी ।
आ-सका यहाँ मैं अत न प्रेममि ! तब-से
आओ स्वागत-स्वीकार करें अब सब-से ।
आ रही निशा फिर निकट यही मधु-वासी
सुनकर फले से फल हुई नत दासी ।

था सिन्धु हर्ष-का उमड़ रहा जन-जन-में
मिलकर सब से निषधेश मुदित थे मन-में ।
राजा रानी भी मिले और वे भाई
जल भरे घड़े सिर धरे तरुणियाँ आई ।
बज रहे शंख वादित्र जगा-प्रिय-मंगल
जिनकी ध्वनि सुन उठ भगा सभीत अमंगल ।
कन्यायें गाती गीत खील बरसातीं
वृद्धायें कर मधु-याद सहज मुस्कातीं
था यही स्वयंवर बिम्ब दृगों-में छाया,
कैसी है मोह ! विचित्र राम की माया ।

उस कोने में कुछ हुआ अचानक रव-सा
जन-पत्रों में से पुष्प-तुल्य नीरव-सा—
वह निकला दीन-सा युवक बढ़ा आता है
ज्यों करुण-महानद लहर बढ़ा आता है ।

नल-नृप जैसा ही वेश सुगठ आकृति-भी
ये पुष्कर हैं नल-अनुज सुशील सु-मति भी।
जब तक उठकर नृप उन्हें अंक-में भेंटे—
तब तक सहसा वे निज-कर पग समेटे—
अग्रज-चरणों-में गिरे विलख रोते थे
यह दृश्य देखकर सब गंभीर होते थे।
'हे अनुज! उठो, यह पद सु-शीतल कर-लो
लाओ गोदी-में कमल-वदन निज भर-दो।
यह चरण-भूमि है आर्य्य! मुझे धोने दो
है मलिन-वदन सित इस तनिक होने दो।
हा अतुल-स्व-कुल का बना एक घातक मैं
हो गया सभी के लिए सिद्ध पातक मैं।
यह बना राज-मद ज्ञान ध्यान सब छीना
अपने हाथों-कर चुका स्व-सुख मैं मीना।
'तुम दुखी न हो यों-बन्धु! उठो मुद भरके
हो गये कृती तुम-स्वयं स्व-कुल-को करके।
तुमने अनुजा-का वर-वात्सल्य निबाहा
कर दिया स्वयं-सा धन्य मुझे ही आहा।
पंकज-हित यह जल पंक-रूप धरता है,
तम बत्ती-दीपक ही प्रकाश करता है।
देवों का तो है काम कृपा-ही करना,
पड़ता जीवों-को कर्म-फलाफल भरना।
दुख झेल स्वयं जग-का जो मार्ग दिखाते
वे अमर-यशस्वी ही कृतार्थता पाते।
तुम उच्च भाव दे चुके बन्धु! मनजाने
वे हों भव-सागर-पार उन्हें जो मानें।
अब उच्च-सुता-में पूत न जम पावेगा
यह एक लाभ ही जगत न कम पावेगा।

है-प्रजा-धरोहर मात्र ! राज्य सिंहासन
समझ से है अत्युच्च त्याग-का आसन।
यह राजहंस-सा क्षणिक-मिलन भी सुखकर,
मानस-जैसा क्षण-मात्र-मित्र भी दुखकर।
"हे आर्य्य! निषध-साम्राज्य चरण-अर्पित है
जो पहले-से भी अधिक आज अर्पित है।
'यह प्रकृत राज्य मिल गया मुझे शुभ सब-का
कर चुका उसे भी ग्रहण किन्तु मैं कब-का !
अब चलो चलें हाँ-यहाँ प्रजा का सुख भी—
करना है हमको पूर्ण भोगकर दुख भी।
स्वागत-की मैं सुन चुका पूर्ण तैयारी,
कर रहे प्रतीक्षा सभी निषध-जन भारी।
हे देवि ! कुमुदनी धन्य तुम्हारा तप-बल
धुल गये पाप हो गया अतुल-कुष्ठ निर्मल।
हे शुभे ! आज ये अश्रु दृगों-से रोको
हम हुए स्वच्छ तप-पूत इधर अवलोको।
अब आ-पहुँची साकेतराज की बारी—
हे बन्धु ! आपका हूँ मैं चिर-आभारी।
ये किलक रहे शिशु इधर हृष्ट-से फूले
पाकर पितृ-पद ये मोह ! सभी सुध भूले।

सज-रहे हैं आज तीनों-लोक,
हर्ष-का छाया सुखद-आलोक !
भर रहे हैं भक्ति भाव अनन्य
जय सती जय जय सती-शुभ धन्य !